UPNUL/2013/51445 ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष ५ अङ्क १

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी १३/९० सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

अगस्त, २०१५

सम्पादक :
प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : ०५४२-२३६६६२२

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : १२५/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Head, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष ५ अङ्क १

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

August, 2015

Editor :
Prof. Shrikishore Mishra
Dr. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय-सूची

सम्पादकीय

शोधलेख

१.	शरीरस्थ देवता एवं उनकी उपासना विधि	पूज्यगुरुवर श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ (श्रीसीतारामजी कविराज)	१-६
२.	स्वामी करपात्री जी के द्वारा सिद्धान्तित 'रामराज्य' के सामाजिक आदर्श की उत्कृष्टता का दार्शनिक परिशीलन	प्रो. जटाशङ्कर	७-२१
३.	स्वामी करपात्री जी का वाङ्मय वैभव	प्रो. श्रीकिशोर मिश्र	२२-३०
४.	शाक्त एवं शैवमत में वाक्तत्त्व	प्रो. रमाकान्त आङ्गिरस	३१-४०
५.	वामकेश्वर तन्त्र एवं त्रैपुर-सिद्धान्त	प्रो. शीतला प्रसाद उपाध्याय	४१-४३
६.	वैदिक विज्ञान के अनुसार गायत्री मन्त्र का भावार्थ	पं. देवीदत्त शर्मा चतुर्वेदी	४४-४८
७.	गायत्री मन्त्र का तान्त्रिक विधि-विधान	डॉ. हर्षदेव माधव	४९-५८

८.	शैव और शाक्त दृष्टियों की अवैदिकेतरता	डॉ. आशुतोष आङ्गिरस	५९-६४
९.	तन्त्रागमीय नीतितत्त्व का स्वरूप	डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय	६५-७३
१०.	देवी सरस्वती : वेदकाल की नदी से विद्या की देवी तक	म.म. देवर्षि कलानाथ शास्त्री	७४-८१
११.	शैव दार्शनिकों की अद्वयमयी भक्ति	प्रो. बीना अग्रवाल	८२-८९
१२.	कुण्डलिनी जागरण की विधियों में प्राप्त समस्याओं का निवारण	पं. रमेशचन्दशर्मा 'मिश्र'	९०-९८
१३.	A Philosophical Analysis Of The Notion And Gender Of Avalokiteśvara In Buddhist Tantra And Its Śaiva-Śākta Origins	AnubhavVarshney	९९-१०४

सम्पादकीय

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का नवीन अङ्क प्रस्तुत है। इसमें सर्वप्रथम शिवसायुज्य प्राप्त प्रातःस्मरणीय गुरुदेव श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ (पं. सीताराम कविराज) का 'शरीरस्थ देवता एवं उनकी उपासनाविधि' नामक साधकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शोध लेख संगृहीत है। इसमें पूज्य गुरुदेव ने देह को देवालय सिद्ध करने हेतु तन्त्रागम के शास्त्रीय आधार पर उत्कृष्ट विवेचन किया है। दश इन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त इन चौदह में अवस्थित शरीरस्थ देवता एवं उनकी उपासन का फल स्पष्ट करते हुए तन्त्रागम के अन्तर्याग विधान के अनुसार शरीरस्थ षट्चक्रों के देवता तथा उनके उपासना हेतु अजपा जपविधि को प्रतिपादित किया है। यही मन्त्रयोग साधक के लिए सर्वथा महत्त्वपूर्ण साधन बनता है।

प्रयाग विश्वविद्यालय के ख्यातिप्राप्त प्रो. जटाशङ्कर ने द्वितीय लेख 'स्वामी करपात्री जी के द्वारा सिद्धान्तित रामराज्य के सामाजिक आदर्श की उत्कृष्टता का दार्शनिक परिशीलन' में ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी के समाजशास्त्रीय मत एवं रामराज्य के शास्त्रीय विधान के पक्ष को दार्शनिक निकष में परीक्षण करते हुए उसकी सर्वोत्कृष्टता युक्ति के आधार पर प्रतिपादित की है जो स्वामी जी के शोधात्मक मत एवं शास्त्रीय पक्षों की निरतिशय गम्भीरता को सुप्रमाणित करता है, जो सर्वथा अभिनन्दनीय है। 'स्वामी करपात्री जी का वाङ्मय वैभव' विषयक तृतीय आलेख में स्वामी जी के वाङ्मय एवं विषयवस्तु का संक्षिप्त सार रूप उत्तम परिचय प्रस्तुत किया है। यद्यपि *भक्तिसुधा* जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का परिचय अभी तक इसमें समाविष्ट हो नहीं सका है जिसे अग्रिम अङ्कों में प्रस्तुत किया जायेगा।

पञ्जाब विश्वविद्यालय के लब्धप्रतिष्ठ साधक प्रो. रमाकान्त अङ्गिरस ने तुरीय लेख में शाक्त एवं शैव आगमों में प्रतिपादित 'वाक्तत्त्व' का गम्भीर शास्त्रीय विवेचन अनेक शास्त्रों के सङ्गत एवं सयुक्तिक आधार पर प्रस्तुत करके साधक वर्ग के लिये स्तुत्य प्रयास किया है। 'वामकेश्वर तन्त्र एवं त्रैपुर-सिद्धान्त' विषयक आलेख में प्रो. शीतला प्रसाद उपाध्याय, काशी ने तान्त्रिक वाङ्मय के प्रामाणिक आधार पर इन दोनों सिद्धान्तों का समन्वय एवं सामञ्जस्य सुस्थापित करने का उत्तम प्रयास किया है।

महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के पुत्र पं. देवीदत्त चतुर्वेदी ने अपने विवेचनापरक लेख 'वैदिक विज्ञान के अनुसार गायत्री मन्त्र का भावार्थ' में वैदिक विज्ञान की दृष्टि के सक्षम आधार पर इसकी गहनता को सुस्पष्ट करने का महनीय प्रयास किया है। 'गायत्री मन्त्र का तान्त्रिक विधि-विधान' निबन्ध में प्रथित श्रीविद्योपासक प्रो. हर्षदेव माधव, अहमदाबाद ने गायत्री मन्त्र का तान्त्रिक निर्वचन तथा विधि-विधान को सुस्पष्ट करके साधक जगत् के लिए एक महनीय कार्य किया है।

'शैव और शाक्त दृष्टियों की अवैदिकेतरता' विषयक आलेख में सुप्रथित चिन्तक डॉ. आशुतोष आङ्गिरस, अम्बाला ने शैव एवं शाक्त दृष्टियों की वैदिक मूलकता तथा विविधता को शास्त्रीय आधार पर

विवेचित करने का प्रयास किया है जो पाश्चात्यों की अनेक भ्रान्तियों का निवारण करते हुए तन्त्रागम की तथाकथित वेदविरोधिता का समुचित प्रत्याख्यान करता है। यह निबन्ध तन्त्रागम की गहनता को प्रामाणिक एवं तुलनात्मक आधार पर सुस्पष्ट करने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

'तन्त्रागमीय नीति तत्त्व का स्वरूप' विषयक निबन्ध में तन्त्रागम आधारित नीतिदर्शन को सुस्पष्ट करने का महनीय प्रयास डॉ. शीतला प्रसाद पाण्डेय ने किया जो विशेष गम्भीर अध्ययन का परिणाम है।

मनीषी म.म. देवर्षि कलानाथ शास्त्री ने अपने शोधपूर्ण आलेख में 'देवी सरस्वती : वेदकाल की नदी से विद्या की देवी तक' में सरस्वती नदी को वैदिक प्रमाणों के सन्दर्भ में विवेचित करते हुए इनके देवी स्वरूप के विकास की यात्रा पुराण एवं तन्त्रागम के आधार पर दृढ़तापूर्वक सुस्थापित की है। यह नवीन शोध दृष्टि से लिखा गया आलेख विचारकों के लिए सर्वथा विचारणीय, मननीय एवं संग्रहणीय है। इस लेख के आधार पर प्राच्य एवं प्रतीच्यशास्त्रों में शोध समन्वय की दिशा प्राप्त हो सकती है।

'शैव दार्शनिकों की अद्वयमयी भक्ति' विषयक महत्त्वपूर्ण आलेख में प्रो. बीना अग्रवाल ने अद्वैत भक्ति की शास्त्रीय अवधारणा को काश्मीर शैव दर्शन के आधारभूत ग्रन्थों के आधार पर सुविवेचित किया है जो कल्पित द्वैत की भावना का भी निरास शास्त्रीय आधार पर करते हैं।

'कुण्डलिनी जागरण की विधियों में प्राप्त समस्याओं का निवारण' विषयक आलेख में तन्त्रविद्या के अनुभव प्राप्त साधक पं. रमेशचन्द्र शर्मा, किशनगढ़ ने तन्त्र का व्यावहारिक पक्ष रखते हुए षट्चक्र वेधन, ध्यान, मन्त्राक्षर तथा अजपाजप के आधार पर कुण्डलिनी जागरण के समय अनुभूत व्यावहारिक समस्याओं का निराकरण करके साधकों के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

शोध के अन्तिम लेख में युवा चिन्तक अनुभव वार्ष्णेय ने बौद्ध तन्त्रों में निरूपित अवलोकिश्वर के स्वरूप की तुलना वैदिक शिवशक्ति सामरस्य के सिद्धान्त से बिठाते हुए बौद्ध एवं वैदिक आगमों की परस्पर पूरकता एवं समन्वय का महनीय प्रयत्न किया है। वस्तुत: तन्त्रागम दृष्टि से दोनों परम्परायें वस्तुत: विरोधी नहीं है, यह सिद्ध किया गया है।

यह अंक न केवल महत्त्वपूर्ण पूर्वप्रकाशित सामग्री को साधकों के लिए उपलब्ध कराता है अपितु नई रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अंक का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिए उपयोगी होगा।

परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से उनके जन्मोत्सव पर (२७-२८ फरवरी, २०१५ को) दर्शनशास्त्र विभाग में एक राष्ट्रिय संगोष्ठी 'शक्ति साधना' विषयक सम्पन्न हुई। इसमें प्रस्तुत कतिपय लेख इस अङ्क में प्रस्तुत है। इस वर्ष भी 'कुण्डलिनी साधना' पर एक संगोष्ठी विभाग द्वारा किये जाने का निश्चय है, जिसमें सभी साधक एवं लेखक आमन्त्रित हैं।

शरीरस्थ देवता एवं उनकी उपासना विधि

पूज्यगुरुवर श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ (श्रीसीतारामजी कविराज)

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक सर्वात्मा, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् भगवान् ने जब अखिल विश्व की रचना की, तब उन्होंने **'तत् सृष्ट्वा तदनुप्राविशत्'** इस श्रुति के अनुसार विश्व की रचना कर उसमें प्रवेश किया। श्रीभगवान् के प्रवेश करने पर तत्तत् शक्तियों के अधिष्ठाता सब देवता भी उनके साथ में आये। **'यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे'** के अनुसार जैसा यह विश्व बना, वैसा ही मनुष्य का शरीर भी बना। समस्त विश्व में जितने देवता हैं, उतने ही देवता शरीर में भी अवस्थित हैं। इस जगत् में भगवान् जैसे सर्वदेवाधिपति के रूप में विराजमान हैं उसी प्रकार इस शरीररूपी देवालय में जीवात्मा सनातन देव के रूप में अवस्थित है। अतएव यह कहा गया—**देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सनातनः**। इसीलिये ब्रह्माजी मनुष्य को बनाकर बड़े प्रसन्न हो गये, क्योंकि वह ब्रह्म को जान सकेगा। यह इसकी विशेष बात है।

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः।। ***(श्रीमद्भागवतपुराण. ११.९.२८)***

वैसे तो भगवान् ने अपनी अचिन्त्य शक्ति से—माया से वृक्ष, सरीसृप (रेंगने वाले जन्तु), पशु, पक्षी, डाँस और मछली आदि अनेक प्रकार की योनियाँ रचीं, परन्तु उनसे उन्हें संतोष न हुआ। तब उन्होंने मनुष्य-शरीर की सृष्टि की। यह ऐसी बुद्धि से युक्त है जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है। इसकी रचना करके वे बहुत आनन्दित हुए।

इस शरीर में साढ़े तीन करोड़ नाड़ियाँ हैं और उतने ही देवता भी हैं। उनमें और सब तो अप्रकट-रूप से हैं, किन्तु चौदह देवता (१० इन्द्रियों के तथा चार अन्तःकरण के अधिष्ठाता) प्रकट-रूप में हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. चक्षुरिन्द्रिय के देवता—चक्षुओं में भगवान् सूर्य का निवास है और ये ही सूर्य चक्षुरिन्द्रिय के अधिष्ठाता देवता हैं। इसीलिये चक्षुओं के द्वारा ही रूप-दर्शन सम्भव हो पाता है। रूपदर्शन का अधिकार

चक्षुरिन्द्रिय को ही है, अन्य को नहीं। नेत्र-सम्बन्धी विकृतियों के लिए *चाक्षुषोपनिषद्*, *सूर्योपनिषद्* आदि सूर्यदेवतापरक उपासनाओं से विशेष लाभ होता है।

२. घ्राणेन्द्रिय के देवता——नासिका के अधिष्ठाता देवता अश्विनीकुमार हैं। नासिका के द्वारा गन्ध का ज्ञानहोता है। गन्ध-तत्त्व के अधिकारी देवता अश्विनीकुमार हैं। इनका नासिका में अधिष्ठान है।

३. श्रोत्रेन्द्रिय के देवता——श्रोत्र-कान के द्वारा शब्द का श्रवण होताहै। इसके अधिष्ठाता दिक् देवता है। इससे शब्द का ज्ञान होता है।

४. जिह्वा के देवता——जिह्वा में वरुण देवता का निवास है, इससे रस का ज्ञान होता है। इसीलिये जिह्वा को रसना भी कहा जाता है।

५. त्वक् के देवता——त्वचा के द्वारा जीव स्पर्श का अनुभव करता है। इस त्वगिन्द्रिय के अधिष्ठाता वायु देवता है, त्वचा में वायु देवता का निवास है।

६. हाथों के देवता——ग्रहण-त्याग, बल-पराक्रम आदि से सम्बद्ध सभी कर्म हाथों के द्वारा सम्पन्न होते हैं, इनमें इन्द्र देवता का निवास होता है और ये ही हस्तेन्द्रिय के अधिष्ठाता देवता है।

७. चरणों के देवता——चरणों के देवता श्रीविष्णु हैं, इनमें विष्णु का निवास है। इनके द्वारा धर्म की सिद्धि के लिए तीर्थयात्रादि सेवाधर्म होते हैं।

८. वाणी के देवता——जिह्वा में दो इन्द्रियाँ हैं, एक रसना तथा दूसरी वाणी। रसना के द्वारा आस्वादन होता है और वाणी के द्वारा सब शब्दों का उच्चारण होता है। वाणी में देवी सरस्वती का निवास है, ये देवी वाणी की अधिष्ठातृ-देवता हैं।

९. मेढ्र-उपस्थ के देवता——यह गुह्येन्द्रिय है। यह आनन्द का अधिष्ठान है और इसमें प्रजापति देवता का निवास है। इससे प्रजा-संतति की सृष्टि होती है।

१०. पायु-गुदा के देवता——इस इन्द्रिय से शरीर के मल का निःसरण होता है, जिससे शरीर शुद्ध होता है। इसमें मित्र देवता का वास है।

उपर्युक्त दस बाह्येन्द्रियाँ हैं, जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। अन्तःकरण भीतरी इन्द्रियाँ हैं। ये चार हैं——बुद्धि, अहंकार, मन और चित्त। इनका विवरण इस प्रकार है——

११. बुद्धीन्द्रिय के देवता——बुद्धि के अधिष्ठाता ब्रह्मा है। इसीके द्वारा सांसारिक विषयों का तथा सम्पूर्ण विवेक-ज्ञान होता है। यह बुद्धि जितनी निर्मल होती जाती है, उतना ही उसमें सूक्ष्म ज्ञान होता चला जाता है। गायत्री आदि मन्त्रों में सद्बुद्धि की ही कामना की गयी है——**धियो यो नः प्रचोदयात्'** यह ब्रह्मगायत्री कहलाती है। इसीलिये गायत्री की विशेष रूप से उपासना की जाती है। यही बुद्धि धीरे-धीरे निर्मल होकर

ऋतम्भरा प्रज्ञा हो जाती है, फिर जब यह अतिसूक्ष्म हो जाती है तो इसीसे ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है—**'ज्ञायते सूक्ष्मया बुद्ध्या०।'**

१२. अहंकार के देवता—अहंतत्त्व के द्वारा अहं (मैं) का बोध होता है। यह सत्त्व, रज, तम तीन प्रकार का होता है। राजस तथा तामस अहं के द्वारा सांसारिक वस्तुओं का ज्ञान होता है और सत्त्वप्रधान अहंकारतत्त्व से **'सोऽहं'** की भावना होती है। इस अहं के अभिमानी देवता रुद्र हैं।

१३. मन के देवता—मन का धर्म संकल्प-विकल्प है। सांसारिक और पारमार्थिक सभी अवस्थाओं में मन का बड़ा महत्त्व है। *श्रीमद्भागवत* में भिक्षुगीता में इस प्रकार वर्णन किया गया है—

नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः।
मनः परं कारणममनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत्।। *(११. २३. ४३)*

(भिक्षु कहते हैं—) मेरे सुख अथवा दुःख का कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता हैं, न शरीर है और न ग्रह, कर्म एवं काल आदि ही हैं। श्रुतियाँ और महात्माजन मन को ही इसका परम कारण बताते हैं और मन ही सारे संसारचक्र को चला रहा है।

यह मन ही परम कारण है—**मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।** यही मन मननीय शक्ति बनने पर ईश्वर की प्राप्ति करा देता है और इसी मन के निग्रह करने के लिये ही व्रत, दान, नियम, यम, दम, धर्म, कथा तथा सत्कर्म अनुष्ठित होते हैं। मन का एकाग्र हो जाना ही बड़ा योग है, समाधि है। जैसाकि श्रीमद्भागवत (११.२३.४६) में कहा है—

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः परो हि योगो मनसः समाधिः।।

अर्थात् दान, अपने धर्म का पालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ व्रत—इन सबका अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान् में लग जाय। मन का समाहित हो जाना ही परम योग है।

इस प्रकार मन बड़ा प्रबल है। उसका निग्रह कर लेने से सांसारिक सुखों की उपलब्धि होती है और परतत्त्व की भी प्राप्ति हो जाती है। मन के अधिष्ठाता देवता चन्द्रमा है।

१४. चित्त-तत्त्व के देवता—यह चित्त ही चैतन्य है। शरीर में जहाँ जो कुछ स्पन्दन होता है, चलन होता है—यह सब उसी चित्त के द्वारा होता है। सच्चिदानन्द में तीन शब्द हैं, उसमें से सत्—निराकार निर्गुण ब्रह्म की जो इच्छाशक्ति **(एकोऽहं बहुस्याम्)** है, वह इच्छाशक्ति चिद्विलास है। सत् के बाद चित् तत्व है, यही

चैतन्यरूपा शक्ति है। इसीके द्वारा मनुष्य के शरीर में तत्तत् शक्तियों का आविर्भाव होता है। भगवान् ने ब्रह्माण्ड बनाया और वे सब देवता आकर इसमें स्थित हो गये, किन्तु तब भी ब्रह्माण्ड में चेतना नहीं आयी और वह विराट् पुरुष उठा नहीं, किंतु जब चित्त के अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ ने चित्त के सहित हृदय में प्रवेश किया तो विराट् पुरुष उसी समय जल से उठकर खड़ा हो गया—

चित्तेन हृदयं चैत्य: क्षेत्रज्ञ: प्राविशद्यदा।
विराट् तदैव पुरुष: सलिलादुदतिष्ठत।। ***(श्रीमद्भागवत, ३.२६.७०)***

इसी प्रकार समस्त विश्व को चेतन करने वाली यह चित्-शक्ति ही है। उपासना के द्वारा चित्त ही चित् बन जाता है। आगमों में विशेषकर काश्मीर-शिवाद्वैतदर्शन में इसी का स्पन्द-रूप में वर्णन किया गया है। इसी को चित्-शक्ति माना है। तन्त्रों में इसी को शक्ति-रूप में मानकर भगवती के नाना रूपों का वर्णन किया गया है। प्रकृति-शक्ति, चिच्छक्ति ही इसके देवता हैं। शक्ति की उपासना के द्वारा शिव का ज्ञान—ब्रह्म का ज्ञान होता है।

इस प्रकार भगवान् संसार में सभी क्रियाओं का संचालन करने वाले देवताओं के साथ इस शरीर में विराजमान है और ये ही देवता मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष-रूप चतुर्विध पुरुषार्थ को देने वाले हैं। श्रीमद्भागवत (२/३) में भी वर्णन आया है कि तत्तत् कामनाओं के लिए तत्तद् देवताओं की पूजा-आराधना, उपासना करनी चाहिये। सदाचरण, सद्विचार तथा सत्कर्मों द्वारा इन इन्द्रियाधिष्ठातृ-देवताओं की उपासना की जाती है। इससे मनुष्य की सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं और इन देवताओं के संतुष्ट हो जाने पर मनुष्य के हृदय में विराजमान भगवान् की प्राप्ति हो जाती है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में कहा गया है—

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

यद्यपि भगवान् सदा-सर्वदा हृदय में विराजमान हैं, परन्तु वे उपासना द्वारा ही मनुष्य की अभिलषित कामनाओं की पूर्ति करते हैं। जैसे गायों के शरीर में दूध-घी आदि पदार्थ रहते हैं, परन्तु वे उससे मोटी नहीं हो जातीं, पर जब उसी शरीरस्थ दुग्ध को थनों से दुहकर तक्रादि के रूप में परिवर्तित कर उसे पिलाया जाय तो वे मोटी हो जाती हैं। इसी प्रकार ईश्वर हृदयस्थ होने पर भी उपासना के द्वारा ही कल्याण करता है।

प्रह्लादजी ने भी दैत्य बालकों को उपदेश देते हुए कहा कि असुर बालको! अपने हृदय में ही आकाश के समान नित्य विराजमान भगवान् का भजन करने में कौन-सा विशेष परिश्रम है। वे समान रूप से समस्त प्राणियों के अत्यन्त प्रेमी मित्र हैं और तो क्या अपने आत्मा ही हैं। उनको छोड़कर भोग-सामग्री इकट्ठी करने के लिए भटकना—राम! राम!! कितनी मूर्खता है—

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सत:।
स्वस्यात्मन: सख्युरशेषदेहिनां सामान्यत: किं विषयोपपादनै।। ***(श्रीमद्भागवत, ७.७.३८)***

अजपा-जप एवं षट्चक्रों के देवता

स्वस्थ पुरुष के चौबीस घंटे में २१,६०० श्वास-प्रश्वास होते हैं, इन श्वास-प्रश्वासों में **हंसः, सोऽहं** इस मन्त्र का निरन्तर जप स्वाभाविक रूप से अनायास होता रहता है। इसीको अजपा-जप कहते हैं—

अकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हँसोऽतिपरमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।। ***(श्रीविद्यावरिवस्या)***

मनुष्य के शरीर में षट् चक्र हैं। उनमें सब देवताओं का निवास है। यदि प्रातःकाल सूर्योदय के समय यह अजपा-जप उन-उन देवताओं को संकल्पपूर्वक समर्पण कर दिया जाता है तो एक बड़ा यज्ञानुष्ठान सम्पन्न हो जाता है।

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि एवं आज्ञा—ये षट् चक्र हैं

मूलाधारचक्र—यह चक्र उपस्थ और पायु के मध्य में है। यह चार दल का पद्म है। इसके चार दलों में **वं शं षं सं**—ये चार वर्ण हैं। इसका कुंकुम वर्ण है। सिद्धि-बुद्धिसहित गणपति देवता यहाँ विराजमान है। इनको छः सौ मन्त्र समर्पित किये जाते हैं।

स्वाधिष्ठानचक्र—यह उपस्थ के ऊपरी भाग में है। यह षट्दल-पद्म है और **बं भं मं यं रं लं**—ये छः अक्षर इनमें हैं। इसका वर्ण सिन्दूर के समान है। अपनी शक्ति भगवती सरस्वती के साथ भगवान् ब्रह्मा यहाँ विराजमान हैं। इनको छः हजार जप समर्पित किया जाता है।

मणिपूरचक्र—यह नाभि में है। यह दस दलों का पद्म है। इसमें **डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं**—ये दस अक्षर हैं। इसका वर्णन नील है। लक्ष्मीसहित भगवान् विष्णु इसमें विराजमान हैं। इनको छः हजार जप समर्पित किया जाता है।

अनाहतचक्र—यह चक्र हृदय में है। यह द्वादशदल-पद्म है। इसमें कं से ठं तक वर्ण हैं। इसका हेम वर्ण है। पार्वतीसहित परम शिव इसमें विराजमान रहते हैं। इसमें छः हजार जप समर्पित किया जाता है।

विशुद्धिचक्र—यह कण्ठ में है। यह षोडशदल का पद्म है। इसमें अं से लेकर अः तक सोलह स्वर पद्म के पत्रों में हैं। इसका शुद्ध स्फटिक के समान वर्ण है और इसमें प्राणशक्ति सहित जीवात्मा विराजमान है। इसको एक हजार जप समर्पित होताहै।

आज्ञचक्र—यह भ्रूमध्य में स्थित है। यह द्विदल-पद्म है। इसमें हं क्षं—ये दो वर्ण पद्मपत्रों में हैं। ज्ञानशक्तिसहित गुरु देवता इसमें विराजमान हैं। इन्हें एक हजार जप समर्पित किया जाता है। इसका विद्युद्वर्ण है।

इन छः चक्रों के बाद मेरुदण्ड के ऊपरी सिरे पर सहस्रदल-पद्मयुक्त सहस्रारचक्र है। पूरी पञ्चाशत् मातृका के वर्णों (पचास वर्णों) को बीस बार उच्चारण करने से एक सहस्र मातृकाएँ हो जाती हैं और इसी के हजार दलों में ये मातृकाएँ हैं। नानावर्णयुक्त वर्णातीत पूर्णचन्द्रमण्डलयुक्त इस चक्र में चिच्छक्तिसहित परमात्मा विराजमान हैं। इनको एक सहस्र जप समर्पित किया जाता है।

इस प्रकार संकल्पपूर्वक जन समर्पण करके **हंसः** में **सोऽहं** की भावना की जाती है और फिर दूसरे दिन २१,६०० जप अनायास होता है। उसे भी इसी प्रकार समर्पित किया जाता है। (इसकी समर्पण-विधि *श्रीविद्यारत्नाकर* आदि ग्रन्थों में विस्तृत रूप से वर्णित है।)

मन्त्रयोग के द्वारा कुण्डलिनी का जागरण करके इन षट्चक्रों का भेदन किया जाता है। इससे तत्तत् सिद्धियों की प्राप्ति होती है। मन्त्र सिद्ध होने पर कुण्डलिनी-शक्ति सुषुम्णा मार्ग से शिरःस्थ ब्रह्मरन्ध्र में जाती है। वहाँ शिव-शक्ति का समायोग होने से वहाँ स्थित चन्द्रमण्डल से अमृतधाराएँ निकलती हैं, इससे योगी का शरीर उद्दीप्त हो जाता है। इसके लिए सद्गुरु के द्वारा मन्त्र प्राप्त करके उसका विधिवत् पुनश्चरण करने से जब मन्त्र चैतन्य हो जाय तो यह षट्चक्र-भेदन की क्रिया मन्त्रयोग के द्वारा सुगम हो जाती है।

सांसारिक जितनी भी सम्पत्तियाँ हैं यदि वे किसी एक ही मनुष्य को मिल जायं तो भी वह अपूर्ण ही रहता है और उसकी कई प्रकार की इच्छाएँ बनी ही रहती हैं। जीव ब्रह्म का अंश है। ब्रह्म में समस्त ज्ञान, समस्त शक्ति, समस्त विद्या, अनन्त शासनसत्ता आदि सब शक्तियाँ हैं। जीव भी उसीका अंश होने से उसको जब ये सब शक्तियाँ प्राप्त हों तब वह भी पूर्ण हो जाता है। शास्त्रों में ब्रह्मसम्मिलन-योग्य शरीर बनाने का विधान है—**महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।** यज्ञ और महायज्ञों के द्वारा इस शरीर को ब्रह्मसम्मिलन-योग्य बनाया जाता है। इसलिये मनुष्य-शरीर में स्थित जो देवता है, उनकी उपासनाकी जाय तो शीघ्र ही शरीर शुद्ध, पवित्र और ब्रह्म-सम्मिलन-योग्य हो जाताहै। इसीलिये कहागया है—'यह शरीर देवालय है और इसमें स्थित जीवरूप भगवान् के साथ अनेक देवता विराजमान रहते हैं'—

देहो देवालयः प्रोक्तो जीवोदेवः सनातनः।

❑

स्वामी करपात्री जी के द्वारा सिद्धान्तित 'रामराज्य' के सामाजिक आदर्श की उत्कृष्टता का दार्शनिक परिशिलन

प्रो. जटाशङ्कर

आधुनिक युग के वेदान्ती सामाजिक विचारकों में स्वामी करपात्री (स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती) का नाम महत्त्वपूर्ण है। करपात्री जी वेदान्तदर्शन को स्वीकार करते थे और उन्होंने इसका प्रयोग सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए भी किया है। वे सनातन हिन्दू धर्म के पोषक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं, किन्तु उनके दार्शनिक विचारों में वेदान्त का सामाजिक पक्ष भी देखने को मिलता है। समाज और राज्य के विषय में एक आदर्श अवस्था के रूप में 'रामराज्य' की स्थापना उन्होंने की। यह राज्य का आदर्श रूप है। समता, बन्धुत्व और स्वतंत्रता के आदर्श रामराज्य के प्रत्यय में अन्तर्निहित है। रामराज्य के विचार को उन्होंने विकसित किया और अपने ग्रन्थ '*मार्क्सवाद और रामराज्य*'[१] में मार्क्सवाद के साथ इसकी विस्तृत तुलना प्रस्तुत की है।

करपात्री जी का रामराज्य का सिद्धान्त अनेक आलोचनाओं का विषय बना है। उनके प्रमुख आलोचक राहुल सांकृत्यायन हैं, जिन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि करपात्री जी का सिद्धान्त पूँजीवाद का पोषक है और इसीलिए समाजवाद का विरोधी भी है। राहुल जी का कथन है कि रामराज्य का सिद्धान्त तथ्यों से परे एक कल्पना मात्र है और यह अनेक ऐतिहासिक भ्रान्तियों पर आधारित है। राहुल जी ने अपनी पुस्तक '*रामराज्य और मार्क्सवाद*'[२] करपात्री जी की पूर्वोक्त पुस्तक की समीक्षा के रूप में लिखी है। इस समीक्षा में उन्होंने करपात्री जी की पुस्तक का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अध्ययन प्रस्तुत किया है। करपात्री जी की ओर से इस समीक्षा और उसमें निहित खण्डनों का उत्तर '*राहुल की भ्रान्ति*'[३] नामक पुस्तक में दिया गया है और यह दर्शाया गया है कि राहुल द्वारा किया गया खण्डन भ्रान्तिपूर्ण है।

रामराज्य के साथ मार्क्सवाद की तुलना करते हुए करपात्री जी ने यह दिखाया है कि मार्क्स के द्वारा दी गई समाज-व्यवस्था वैज्ञानिक कही जाती है क्योंकि वह वैज्ञानिक नियमों पर आधारित है और व्यवहारत: सत्य घटित होती है। उसमें सामाजिक समता की स्थापना तथ्य के रूप में क्रियान्वित होती है। किन्तु समकालीन चिन्तन में मार्क्सवाद पर जो अध्ययन हो रहे हैं, वे उसे निराभौतिकवादी दर्शन न कहकर एक नैतिक-व्यवस्था मानते हैं। मेरे शोध ग्रन्थ *वेदान्ती समाजवाद*, समाज धर्म एवं दर्शन, इलाहाबाद के 'गीता

का समाजवाद' नामक अध्याय में इस संदर्भ में डॉ. एच.एस. सिन्हा के विचार द्रष्टव्य हैं। पुनश्च, मार्क्सोत्तर युग में विज्ञान के संप्रत्यय में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। मार्क्स के समय तक विज्ञान जड़वादी था अथवा कम-से-कम मार्क्स ने तो उसे इसी रूप में स्वीकार किया था, किन्तु आज विज्ञान जड़द्रव्य के अस्तित्व को मानने के लिए तैयार नहीं है। जड़द्रव्य की परिभाषा कुछ इस प्रकार बदल गयी है कि आज उसे गणितीय समीकरणों को संतुष्ट करने वाली शर्त के रूप में माना जाता है। आइन्स्टाइन के सापेक्षता-सिद्धान्त की स्थापना के बाद जड़-द्रव्य अपना स्वतंत्रता अस्तित्व खो चुका है। मार्क्स का दर्शन जड़ द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करके चलता है और भौतिकवाद के आधार पर समस्त चेतन जगत् की क्रियाओं की व्याख्या करने का प्रयास करता है। आज जब जड़ द्रव्य की सत्ता स्वयं संदेहास्पद है, तब उसे आधार मानकर की गयी चेतन जगत् की व्याख्या कदापि संगत नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में मार्क्सकालीन विज्ञान और उस पर आधारित समस्त सिद्धान्त असंगत होजाते हैं। मार्क्सवादियों का आदर्शों की ओर झुकाव तथा नियतिवाद के मार्ग से विचलन भी इसी ओर संकेत करता है कि जड़-जगत् का नियंत्रण का सिद्धान्त परम सत्य नहीं हो सकता।

इस आलोक में मार्क्स द्वारा की गयी भविष्यवाणियों की निश्चितता भी घट जाती है। प्रमुख रूप से वर्ग-संघर्ष और इसके माध्यम से होने वाले सामाजिक परिवर्तन की भविष्यवाणी आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अवैज्ञानिक लगती है। सामाजिक समानता के लिए वर्गसंघर्ष के अतिरिक्त किसी अन्य साधन की आवश्यकता आज के युग में महसूस की जा रही है, वह साधन भारतीय ऋषियों द्वारा सुझाया गया यज्ञ, दान, तप और अपरिग्रह के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता। राष्ट्रीयकरण और कराधान के माध्यम से संवैधानिक समाजवाद का प्रयास भी दोषयुक्त विधि है। समता का सच्चा स्वरूप इस विधिवाद से नहीं प्राप्त हो सकता। करपात्री जी ने प्राचीन ऋषि परम्परा के आदेश के पालन में समता का अद्‌भुत दृश्य प्रदर्शित करते हुए भागवत पुराण में उद्धृत किया है—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खल: प्रसीदतां, ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे, आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी।।[४]

यहाँ विश्व के कल्याण की, निर्धन और पतित लोगों के उन्नति की तथा समस्त प्राणियों की मुक्ति की कामना की गयी है। सच्ची सामाजिक समता इन कामनाओं और विचारों से ही आ सकती है, किसी भौतिकवादी, जड़वादी सिद्धान्त से नहीं।

मार्क्स का समाजवादी-सिद्धान्त समस्त सामाजिक विषमाताओं के कारण व्यक्तिगत-सम्पत्ति को मानता है। उसके अतिरिक्त अन्य समाजवादी भी इसे किसी-न-किसी रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं। मार्क्स ने व्यक्तिगत-सम्पत्ति के उन्मूलन का नारा बुलन्द किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने वर्ग-संघर्ष तक को उचित माना है। हिंसा के मार्ग से भी यदि समानता की प्राप्ति संभव हो, तो हिंसा उचित मानी गयी है।

व्यक्तिगत-सम्पत्ति जिन शाश्वत नियमों पर आधारित है, वे धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक और आर्थिक अनेक रूपों में प्राप्त होते हैं। इन समस्त नियमों का खण्डन करने के निमित्त मार्क्स ने समाज की द्वन्द्वात्मक व्याख्या की। इस व्याख्या के अनुसार समाज का विकास भौतिक-नियमों के आधार पर द्वन्द्वात्मक-विधि से हुआ है। सामाजिक प्रगति की व्याख्या अन्य किसी भी प्रकार से करना अवैज्ञानिक है। मार्क्स के इस द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को वैज्ञानिक माना गया है, इसीलिए एंजेल्स उसके समाजवादी सिद्धान्त को भी वैज्ञानिक-समाजवाद कहता है।

करपात्री जी ने व्यक्तिगत-सम्पत्ति को भारतीय धार्मिक तथा राजनीतिक शास्त्रों की मान्यता के आधार पर वैध मानाहै। मनुस्मृति का उद्धरण देते हुए उन्होंने कहा है कि सात प्रकार से प्राप्त सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार होता है—

सप्तवित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोग कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च।। ***(मनुस्मृति, १०-११५)***

ये सात प्रकार हैं—दाय, लाभ, क्रय, जय, प्रयोग, कर्मयोग, सत्प्रतिग्रह। इन सात प्रकारों से प्राप्त धन पर व्यक्ति का वैधानिक और धार्मिक अधिकार होता है। उन्होंने कहा है कि इन प्रकारों से प्राप्त धन पर हाथ उठाना अनुचित है। मार्क्स के सिद्धान्त में जिस अतिरिक्त-मूल्य की आलोचना हुई है और जिसको वह सम्पूर्ण सामाजिक अन्याय का मूल स्रोत मानता है, वह भी प्रयोग के माध्यम से करपात्री जी की व्यवस्था में वैध सम्पत्ति स्वीकृत है। भारतीय परम्परा में धन का प्रयोग त्यागपूर्वक ही उचित माना गया है। व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति का केवल पाँचवां हिस्सा अपने लिये प्रयोग में लाना उचित है। ऐसी त्यागपूर्ण-व्यवस्था में अतिरिक्त-मूल्य भी दोष रहित हो जाता है।

मार्क्स के सिद्धान्त में सामाजिक समानता को प्राप्त करने के लिए वर्ग-संघर्ष एवं रक्तक्रांति जैसे घृणित एवं भयंकर कृत्य भी उचित स्वीकार किये गये हैं। करपात्री जी ने यह माना है कि सामाजिक समानता अन्य नियमों में भी स्थापित हो सकती है। उन्होंने यज्ञ के द्वारा आर्थिक-सन्तुलन की बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है। यज्ञों का उद्देश्य सम्पत्ति का समाज में वितरण करना था। इस रूप में यज्ञ धार्मिक कृत्य के साथ-साथ प्रमुख रूप से सामाजिक कृत्य थे। वास्तव में प्राचीन भारतीय व्यवस्था में समाज जैसी कोई संस्था नहीं दिखाई पड़ती, सब कुछ धर्म के अन्तर्गत ही था। यही कारण है कि धर्म के नाम पर किये गये कार्य सामाजिक हित के कार्य भी थे। यज्ञों को स्वामी जी ने इसी रूप में देखा है।

शोषण के प्रश्न पर विचार करते हुए मार्क्स ने सम्पूर्ण समाज को दो वर्गों में बाँट दिया है। एक वर्ग शोषक है जो सम्पूर्ण सम्पत्ति को हस्तगत करके सारी सुविधाओं का उपभोग करता है। दूसरा वर्ग शोषित है जो समस्त साधनों से हीन है। इन दो वर्गों के बीच संघर्ष को मार्क्स अनिवार्य मानता है। करपात्री जी का

कथन है कि शोषक और शोषित सापेक्ष पद हैं। उन्होंने कहा है कि "कोटिपति की अपेक्षा अर्बुद पति अधिक प्रबल है, तब अर्बुद पति को शोषक और कोटि पति को शोषित कहना पड़ेगा। इसी प्रकार कोटिपति को शोषक और लक्षपति को शोषित कहना पड़ेगा। लक्षपति की अपेक्षा सहस्रपति, उसकी अपेक्षा शतपति आदि को शोषित कहा जायेगा। फिर तो रूप्यक पति और वराटिका (कौड़ी) पति में भी शोषक-शोषित की कल्पना करनी पड़ेगी।"[५] यहाँ पर एक बात स्पष्ट है कि शोषक और शोषित को सापेक्ष-पद मानकर भी करपात्री जी ने मार्क्स के द्वारा अभिमत तत्त्व को छोड़ दिया है। मार्क्स शोषक उसे कहता है जो अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पादक सम्पत्ति रखता हो और शोषित वह है जो अपनी जीविका के लिए आर्थिक उत्पादन करके भी अपने श्रम का कम मूल्य पाता है। स्वामी जी के उपर्युक्त उद्धरण में यद्यपि शोषक, शोषित से बड़ा दिखाई पड़ता है, किन्तु शोषित शोषक के लिए अधिक श्रम करके कम मूल्य प्राप्त करता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। अत: इस उद्धरण को सटीक नहीं माना जा सकता। शोषण की समस्या का समाधान अन्यत्र खोजना पड़ेगा।

वर्ग-संघर्ष की आलोचना करते हुए करपात्री जी ने इसे ईर्ष्या पर आधारित बताया है। ईर्ष्या दुर्गुण है। उन्होंने कहाहै "अपने से प्रबल धनवान्, बुद्धिमान् को देखकर ईर्ष्या, उसे मिटा देने की इच्छा, यह पाशविक स्वाभाविक भावना है।"[६] इनका अभिप्राय है कि समाज के एक वर्ग को समाप्त करके दूसरे वर्ग का हित सोचना ईर्ष्या से उत्पन्न है। वास्तविक समानता तभी होती है, जब समाज के सभी वर्ग संतुष्ट हों। जब प्रबल और निर्बल, सम्पन्न और गरीब तथा शोषक और शोषित एक-दूसरे के सहयोगी बन जाते हैं, तभी आदर्श समाज की रचना होती है। ऐसे आदर्श समाज के रूप में उन्होंने 'रामराज्य' का उल्लेख किया है। रामराज्य में सहज विरोध को भी भुलाकर सहयोग और परस्पर प्रीति की चर्चा स्वामीजी ने अनेक बार की है। यह निर्विवाद है कि ऐसा समाज एक आदर्श की कल्पना मात्र है, किन्तु यह भी सत्य है कि यह आदर्श एक दीप-स्तम्भ की भाँति मानव-समाज का मार्ग-दर्शन अवश्य करता है।

व्यक्तिगत-सम्पत्ति के उन्मूलन का करपात्री जी ने विरोध कियाहै। उनकी मान्यता में व्यक्तिगत-सम्पत्ति का होना राज्य के अनुशासन के लिए परम आवश्यक है। रामराज्य में व्यक्तिगत-सम्पत्ति के अपहरण को उचित नहीं माना जाता। अपने मत को पुष्ट करने के लिए उन्होंने कहा है "जैसे एक-एक वृक्षों के कट जाने पर वह वन कट जाता है, एक-एक सैनिकों के नष्ट हो जाने पर सेना नष्ट हो जाती है, वैसे ही एक-एक व्यक्तियों के परतन्त्र, अशिक्षित, निर्धन, निर्बल हो जाने पर राष्ट्र एवं विश्व भी वैसा ही हो जाता है। एक-एक व्यक्तियों के हृष्ट-पुष्ट, बलवान तथा बुद्धिमान् होने से राष्ट्र बलवान हो जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की शक्ति नष्ट हो जाने पर शासन निरङ्कुश हो जाता है, उसे हरा सकने की शक्ति जनता के पास नहीं रहती।"[७] यहाँ पर तार्किक दृष्टि से विचार करने पर करपात्री जी के मत में दोष दिखाई पड़ताहै। इसे संहति दोष कहा जाता है। जैसे किसी भारी मशीन के एक-एक पुर्जों के हल्के होने से पूरी मशीन को हल्की नहीं कहा जा सकता है, वैसे ही अङ्ग के गुणों के आधार पर अङ्गी के गुण का निर्धारण नहीं किया जा सकता। किन्तु विश्व की रचना तर्कों के आधार पर नहीं हुई है। तर्क से परे अनेक ऐसे मूल्य हैं जिनसे यह विश्व बना है। स्वामी जी के पक्ष में

इस प्रकार से तर्क दिया जा सकताहै कि अगर किसी मशीन के एक-एक पुर्जे महँगे हैं तो निश्चित रूप से पूरी मशीन भी महँगी होगी। यह तर्क संहति दोष का निवारण करता है। यहाँ अङ्ग के गुणों के आधार पर अङ्गी के गुणों का निर्धारण वैध तरीके से सम्भव है। किन्तु अगर तार्किक उत्तर न भी सम्भव हो, तो भी व्यवहार के आधार पर यह सत्य सिद्ध होता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और उससे लगाव व्यक्ति में जीवन के प्रति रुचि उत्पन्न करता है। साम्यवादी देशों की समाज-व्यवस्था पर दृष्टिपात करने से भी यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तिगत-सम्पत्ति के अभाव में वहाँ लोगों में जीवन के प्रति तथा उत्पादन के कार्यों के प्रति अरुचि दिखाई पड़ती है। वर्तमानरूस और चीन में, जहाँ साम्यवाद कई दशकों तक रह चुका है, इस ओर रुझान दिखाई पड़ रही है। इसके लिये अनेक कार्यक्रम इन राष्ट्रों में संचालित हो रहे हैं। रूसी नेता गोर्बाच्योव के पेरेस्ट्रोइका और ग्लैसनोस्ट के आदर्श इस बात को प्रमाणित करते हैं।

इस दिशा में वर्तमान युग में साम्यवादी राज्यों में परिवर्तन भी इस बात को प्रमाणित करता है। आज साम्यवादी राज्यों में न्यूनतम व्यक्तिगत-सम्पत्ति की ओर लोगों का झुकाव दिखाई पड़ता है। व्यक्तिगत-अधिकारों की बात भी एक सीमा तक दिखाई और सुनाई पड़ने लगी है। व्यक्ति को समाप्त करके समाज की सेवा वदतोव्याघात है। व्यक्ति का हित समाज के हित से वैसे ही अभिन्न है, जैसे हाथ अथवा पैर का हित सम्पूर्ण शरीर के हित से। हाथ अथवा पैर को काट कर शरीरको स्वस्थ नहीं रखा जा सकता। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि दोनों के हितों में समायोजन किया जाय।

आर्थिक असन्तुलन को दूर करने और समाज को सुखी एवं व्यवस्थित करने का मार्ग करपात्री जी ने सुझाया है। इस दिशा में वर्ग-संघर्ष सहायक नहीं हो सकता। इसके लिए रामराज्य की विधि यज्ञ एवं दान की है। अनेक ऐसे यज्ञों का उल्लेखआता है, जिनमें सर्वस्व दान करके यजमान राजा तक मिट्टी के बर्तनों के साथ निर्वाह किए हैं। ये दान की गई वस्तुएँ और सम्पत्ति समाज के सभी वर्गों में वितरित होती थीं। सेवा के प्रतिदान के रूप में सेवकों को, वस्तु-विनिमय के रूप में व्यापारियों को, रक्षा कार्य के लिए क्षत्रियों को और यज्ञ में सहयोग के लिए ब्राह्मणों को दिया गया यह धन सम्पूर्ण समाज में वितरित हो जाता था।

इस संदर्भ में दान का महत्त्व उल्लेख्य है। धनी होकर दान न देने वालों को तथा गरीब होकर तपस्या न करने वालों को पत्थर बाँधकर जल में डुबा देने का आदेश शास्त्र देते हैं।

द्रावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्।।[८]

किन्तु ऐसी व्यवस्था वहीं सम्भव है, जहाँ राज्य और नियम धर्म के नियंत्रण में हों। शास्त्र के इस आदेश का पालन करते हुए बनायी गयी समाज-व्यवस्था धनी और निर्धन वर्ग के बीच के भेद को मिटाने में सर्वोत्तम सहायक हो सकती है। दान के द्वारा दान देने वाले और दान लेने वाले दोनों का लाभ होता है। दान देने वाले

को प्रकट रूप से यश, कीर्ति, सम्मान और संतुष्टि प्राप्त होती है। अप्रकट रूप से तो उसे अन्य अनेक उपलब्धियाँ होती हैं। यदि इन अप्रकट उपलब्धियों को अस्वीकार भी कर दिया जाय तो भी प्रकट उपलब्धियों के साथ-साथ समाज के आर्थिक संतुलन की उपलब्धि तो निर्विवाद ही है। दान लेने वाले को धन की आवश्यकता होती है क्योंकि वह निर्धन होता है, किन्तु उसके पास तपस्या का धन शास्त्रों के आदेश के पालन के फलस्वरूप पहले से ही रहता है। स्थिति यह बनती है कि समाज के एक वर्ग के पास धन अर्थात् भौतिक सम्पत्ति होती है और दूसरे वर्ग के पास तप अर्थात् आध्यात्मिक सम्पत्ति होती है। दोनों वर्ग परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा एक-दूसरे का कल्याण करें, यही सच्चे रामराज्य का उद्देश्य है। आर्थिक-असंतुलन को दूर करने का इससे अच्छा अन्य कोई मार्ग नहीं है।

करपात्री जी की मान्यता है कि आर्थिक-असंतुलन को मिटाने के लिए वर्ग विद्वेष अथवा वर्ग-संघर्ष का मार्ग अत्यन्त अमानवीय है। उनके अनुसार "संघर्ष और विघटन का कारण प्रमाद, विलासिता और स्वार्थपरायणता है।"[९] धनी अथवा निर्धन होने से इस पर कोई असर नहीं पड़ता। द्वेष की भावना मानव मन की दुर्बलता से उत्पन्न होती है। यह सहयोग की भावना के विरुद्ध है। सहयोग के बिना सामाजिक-शान्ति असंभव है, इसलिए वर्ग-द्वेष को आधार बनाकर सुख-शान्ति की आशा करना तथा समाज को स्थायित्व प्रदान करना सम्भव नहीं है। इसके द्वारा प्राप्त सामाजिक ढाँचा अत्यन्त अस्थिर और परिवर्तनशील होता है। इस बात की पुष्टि उन समाजों के अवलोकन से भी होती है, जहाँ वर्ग-संघर्ष के माध्यम से तथाकथित समानता की स्थापना का दावा किया जाता है। साम्यवाद के नाम पर कठोर अधिनायकतंत्र की स्थापना से आज भी वहाँ का जन-सामान्य दबा है। यद्यपि यह अधिनायकतंत्र व्यक्ति के रूप में नहीं है, फिर भी इसका विरोध उन समाजों में है।

इस प्रसंग में करपात्री जी ने रामचरित मानस का एक दोहा—**निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन् करहिं विरोध।।** उद्धृत करते हुए स्थापना की है कि "यह सम्पूर्ण विश्व ईश्वरमय है, इसलिए किसी का किसी से विरोध होना अज्ञान जनित है।"[१०] उनकी मान्यता है कि भौतिकता के क्षेत्र में सच्ची स्वतंत्रता, समता और बंधुता सम्भव ही नहीं है। इन आदर्शों को अगर प्राप्त करना है तो अभौतिक-क्षेत्र में ही प्रवेश करना पड़ेगा। अभौतिक क्षेत्र में सामाजिक-समानता, स्वतंत्रता व भ्रातृता के आदर्श से उत्कृष्ट आदर्श दिखाई पड़ते हैं, जिनमें न केवल सम्पूर्ण मानव की एकता की बात कही गई है, बल्कि संपूर्ण सृष्टि की एकता, जिसमें मानवेतर प्राणी, जीव, अजीव सभी एकसूत्र में बँधे दिखाई पड़ते हैं। एक ही शक्ति जड़, चेतन सब में व्याप्त हैं और वही सबको धारण करती है। यह संभवत: समानता का सर्वोत्कृष्ट आदर्श है।

यह प्रश्न अवश्य अवशिष्ट रह जाता है कि इस अभौतिक एकता का सामाजिक उपयोग क्या है? क्या यह आदर्श मानव समाज में लागू हो सकता है? इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर यही है कि इस एकता के आदर्श का मानव समाज के लिये वही उपयोग है, जो किसी भी आदर्श का होता है। जहाँ तक आदर्शों के

क्रियान्वयन का प्रश्न है, प्राय: सभी आदर्शों के विषय में यह सत्य है कि उन्हें क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। अब तक मानव इतिहास में जितने भी आदर्श बने हैं, उनमें से कोई भी पूरा-पूरा तथ्य रूप में परिणत नहीं हुआ है। ऐसा शायद इसलिए है कि आदर्श तभी तक आदर्श होते हैं जब तक तथ्य के रूप में बदल नहीं जाते। आदर्श सर्वकालिक होते हैं इसलिए वे तथ्य के रूप में कभी नहीं बदले जा सकते। आदर्शों को तथ्य अथवा व्यवहार के स्तर तक उतारना पतन कहा जायेगा। विकास की बात तो यह है कि तथ्यों को आदर्श के स्तर तक ऊँचा उठाया जाय और इसी उद्देश्य से आदर्शों का निर्माण किया जाता है।

आदर्श राज्य-व्यवस्था की कल्पना विभिन्न देशों और कालों में की गयी। इनमें से कुछ तो केवल आदर्श मात्र बनकर रह गईं और कुछ कल्पनाएँ साकार रूप भी ले सकीं। इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं के इतिहास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इन सबमें एक सामान्य तत्त्व विद्यमान रहा है। वह सामान्य तत्त्व है, इनका मानव-कल्याणोन्मुख होना। राज्य-व्यवस्था की उत्पत्ति का मूल उद्देश्य भी यही था। यूटोपियन समाजवादी काल्पनिक विचार, वैज्ञानिक समाजवाद के व्यावहारिक विचार, प्राचीन राजतंत्र, गणतंत्र, जनतन्त्र और रामराज्य का आदर्श सब में मानव-कल्याण की भावना एक सामान्य तत्त्व के रूप में दिखाई पड़ती है। यहाँ हमारा उद्देश्य केवल इतना परखना है कि इन व्यवस्थाओं में से कौन-सी व्यवस्था अपने इस मूल उद्देश्य को सही रूपों में पूरा करती है। आधुनिक युग में समाजवाद (वैज्ञानिक) को सर्वथा न्याय-संगत एवं पूर्ण राज्य-सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। इस व्यवस्था के अन्दर झाँकने का जिन्होंने प्रयास किया है, उनको यही दिखाई पड़ा कि यह मानव-मात्र के कल्याणार्थ और सामाजिक-समता की स्थापना का सिद्धान्त है। सामान्य-दृष्टि से यह व्यवस्था मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की सम्यक् पूर्ति एवं उत्पादक-सम्पत्ति के व्यक्तिगत-स्वामित्व के खण्डन के पक्ष में है। अन्य सिद्धान्तों की मूल मान्यताएँ अति प्रचलित होने के कारण उल्लेख्य नहीं है। यहाँ रामराज्य के आदर्श के साथ वैज्ञानिक-समाजवाद की तुलना अपेक्षित है, क्योंकि एक वेदान्त के मूल्यों पर आधारित समाज-व्यवस्था है और दूसरी आधुनिक युग को चकाचौंध कर देने वाली पूर्णत: भौतिकवादी व्यवस्था है।

वैज्ञानिक-समाजवाद के समक्ष कुछ प्रश्न रखकर विचार को आगे बढ़ाया जा सकता है। प्रथम प्रश्न यह है कि क्या आधुनिक युग के वैज्ञानिक समाजवाद पर आधारित राज्यों को वे समस्त उपलब्धियाँ हुईं, जिनके लिए इनकी स्थापना हुई थी? द्वितीय प्रश्न क्या इन राज्यों में पूर्ण समता प्राप्त हो सकी? और तृतीय प्रश्न है कि क्या वे राज्य समस्त नागरिकों को स्वतंत्रता, जो कि मानवता का प्राण है, दिला सके? इन समस्त प्रश्नों का उत्तर स्पष्टत: नकारात्मक होगा। इस उत्तर के नकारात्मक होने का कारण भी स्पष्ट है। ये उपलब्धियाँ इसलिए नहीं हो पायीं, क्योंकि वैज्ञानिक समाजवाद मनुष्य के व्यक्तित्व के उच्चतर पक्ष को अस्वीकार करके चलता है। रोटी, कपड़ा और आवास की समानता का उद्देश्य बनाकर व्यक्तित्व के अन्य पक्षों को नगण्य मान लिया गया है, जबकि उन्हीं पक्षों में भारी विषमता निवास करती है। साम्यवाद के अन्तर्गत भी विज्ञान, कला

और साहित्य की उन्नति अवश्य हुई है, किन्तु इनका उद्देश्य भी भौतिकता की पूर्ति ही है। विज्ञान का प्रयोग मानव-जीवन के भौतिक और सांसारिक मूल्यों तक ही सीमित रखा गया है। यही इसका क्षेत्र ही है। कला और साहित्य का विकास भी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप ही हो रहा है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन होने के कारण यह भौतिकता के स्तर से उठ नहीं सका है। जीवन का सुख आध्यात्मिक आनन्द नहीं हो सकता। सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है और साम्यवादी विज्ञान, कला और साहित्य इन्हीं सुखों का साधन मात्र है। यह आत्मिक-आनन्द की सृष्टि में अक्षम है, अतएव इन्हें एकाङ्गी माना गया है। वर्ग भेद का अन्त करने के प्रयास में उन्होंने नये सामाजिक वर्गों को जन्म दिया है, जीवन-स्तर की समानता का प्रयास करते हुए भी उन्होंने उस अन्तर को कायम रखा है, जो पूर्ववर्ती समाज में था। व्यक्ति बदल गये, व्यवस्था बदल गयी, लेकिन व्यवस्था का मूल तत्त्व अपरिवर्तित ही रहा। आज भीउन राज्यों में शासक और शासित वर्ग का स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है। शासितों पर राज्य के प्रति दायित्व का जो भार लादा गया है, उसे वे बाध्य होकर ढो रहे हैं, स्वेच्छापूर्वक नहीं।

इस बाध्यता का एकमात्र कारण मानव-स्वतंत्रता की समाप्ति है। मनुष्य को यान्त्रिक नियमों से नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक-समाजवाद मनुष्य को भी विज्ञानका विषय-यन्त्र मानकर समस्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। यही कारण है कि उसे पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। साम्यवादी राष्ट्र चीन एवं रूस में कुछ वर्षों से जो परिवर्तन हो रहे हैं, वह मानव-स्वतन्त्र्य की दिशा में उठाये गये कदम हैं। स्वतन्त्रता की भावना यांत्रिकता के अर्थ में परिभाषित विज्ञान के नियमों का पालन नहीं कर सकती। आज विज्ञान का अर्थ भी परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। उन्नीसवीं शती के विज्ञान से, जिस पर मार्क्स का दर्शन आधारित था, आगे बढ़कर आज विज्ञान यांत्रिकता से स्वातंत्र्य की ओर बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में मार्क्स के विचारों को तत्त्वत: वैज्ञानिक-समाजवाद कहना भी अनुचित होगा। केवल आलोचनात्मक विधि के कारण यह वैज्ञानिक समाजवाद कहा जा सकता है।

सामाजिक एकता की प्राप्ति के लिए कोई ऐसा सिद्धान्त खोजना आवश्यक हो गया है, जिसमें मानव-स्वतंत्रता को सुरक्षित रखा जा सके। इस दृष्टि से रामराज्य की कल्पना आदर्श प्रस्तुत करती है। रामराज्य की कल्पना का एक चित्र करपात्री जी ने प्रस्तुत किया है। दूसरा चित्र संत तुलसीदास के रामचरित मानस में भी मिलता है। प्रथम चित्र बहुत कुछ द्वितीय चित्र पर ही आधारित कहा जा सकता है। किन्तु करपात्री जी ने 'मानस' के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रन्थों का भी आश्रय लिया है। अखिल भारतीय रामराज्य परिषद् के चुनाव घोषणापत्र में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद महात्मा गाँधी ने रामराज्य की स्थापना का स्वप्न देखा था। उस स्वप्न को साकार करने का अवसर उनको न मिल सका। स्वामी करपात्री ने उसे साकार करने के उद्देश्य से इस राजनीतिक दल की स्थापना की। रामराज्य परिषद् को करपात्री जी ने राजनैतिक दल का रूप दिया। इसकी स्थापना जिन उद्देश्यों से की गई, वे निम्नलिखित हैं—

१. सभी प्राणी परमपिता परमात्मा की सन्तान होने से भोजन, आच्छादन, चिकित्सा, आवास, शिक्षा, न्याय-प्राप्ति में समान अधिकार रखते हैं तथा भ्रातृभाव रखना इन सबका प्रमुख कर्त्तव्य है। रामराज्य की सफलता में यह मौलिक अधिकार प्रमुखतम रूप से सर्वमान्य होगा।[११] इस घोषणा में वे समस्त क्षेत्र समान अधिकारों के लिए खुले हैं जिनकी आवश्यकता मानव जीवन के संचालन के लिए होती है।

२. इसके अन्तर्गत राष्ट्र के सभी नागरिकों को अपने धर्म, शास्त्र, परम्परा और मान्यता के अनुसार अपने-अपने धर्म के पालन की पूर्ण स्वतन्त्रता और सुविधा होगी। किसी को दूसरे के धर्म में हस्तक्षेप का अधिकार न होगा।[१२] धर्म-निरपेक्षता समाजवाद का प्रमुख गुण है। स्वामी जी ने उक्त घोषणा में यह स्पष्ट कर दिया है कि राज्य को धर्म से कोई सरोकार नहीं है। उसे सभी धर्मों से निरपेक्ष होना चाहिए। धर्म व्यक्ति के लिए है और उसे पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त गोरक्षा, हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना, न्याय प्राप्ति में विलम्ब और उत्कोच का उन्मूलन, निर्यात नीति में सुधार आदि की चर्चा इसके उद्देश्य में की गयी है। यह सभी विचार भारत के राष्ट्रीय-चरित्र के निर्माण में सहायक और आवश्यक हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने घोषणा की—

३. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विदेशों से ऐसे समझौते कभी न किए जायेंगे, जिनसे भारतीय अर्थ, राष्ट्रीय स्वाभिमान अथवा हित तथा स्वत्व की क्षति हो। शिमला समझौता, बँगला देश की स्वतंत्रता में अपार जनधन की क्षति के अनन्तर भी भारत का शिर:शूल निरन्तर अबाध गति से चालू है। उत्तरवर्ती सीमा पर चीन के सम्मुख प्राय: हम असहाय से प्रतीत हो रहे हैं और काश्मीर भी चिन्ता का विषय बन रहा है, इसलिए राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों का सिंहावलोकन तथा संशोधन अनिवार्य है।[१३] इन विचारों में राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी है। समाजवादी विचार सैद्धान्तिक रूप में तो अन्तर्राष्ट्रीय रहे और राष्ट्र की सीमाओं में उन्हें नहीं बांधा गया, किन्तु व्यवहार में हम इसका उल्टा ही पाते हैं। पाश्चात्य समाजवाद के इतिहास पर दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि विश्वयुद्धों के समय समाजवाद का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप बिखर गया और राष्ट्र की सीमाओं में बंधकर समाजवादियों ने परस्पर युद्ध भी किया। बाद के इतिहास से भी यही स्पष्ट होता है कि राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय परम्पराओं का बन्धन समाजवाद का एक आवश्यक गुण बन गया है। स्वामी करपात्री जी के इन राष्ट्रवादी विचारों से उनके समाजवादी विचारों को बल मिलता है।

रामराज्य परिषद् अन्य समस्त भारतीय राजनैतिक दलों से अलग, भारतीय परम्परा पर आधारित दल है। समस्त आर्थिक, सामाजिक, शारीरिक और मानसिक कष्टों की एकमात्र महौषधि रामराज्य है। अन्य राजनैतिक दलों से मौलिक भेद के ही कारण इस दल का चुनावी समझौता किसी अन्य राजनीतिक दल से न हो सका। वेदान्त-दर्शन के मूल्यों को समाज और उसकी समस्याओं के निदान के ढाँचे में ढालने का जो

प्रयास करपात्री जी ने किया, वह उनके पूर्ववर्ती वेदान्तियों में नहीं दिखाई पड़ता। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने समाज के लिए जो भी विचार दिये, वे उपदेशात्मक अधिक रहे। उनके पीछे कोई राष्ट्रीय कार्यक्रम स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई पड़ता। करपात्री जी ने जो कार्यक्रम दिया, वह समाज की मुख्य धारा से जुड़ा है। आधुनिक-युग राजनीति से अलग नहीं हो सकता। इस बात को ध्यान में रखकर स्वामी करपात्री जी ने राजनैतिक ढाँचे में वेदान्त को ढाला।

स्वामी जी के राजनीतिक विचार राष्ट्रवादी हैं, किन्तु अन्य राष्ट्रवादी संगठनों से उनके विचार अलग हैं। स्व. गोलवरकर जी की पुस्तक 'विचार नवनीत' में प्रकाशित अनेक विचारों की उन्होंने कटु शब्दों में आलोचना की है। गोलवरकर जी भी राष्ट्रवादी थे, किन्तु उन्होंने उक्त पुस्तक में ऐसा लिखा है कि हमारी (भारतीयों की) सांस्कृतिक-परम्परा की एक विशिष्टता यह भी है कि हमने किसी भी ग्रन्थ को धर्म अथवा संस्कृति के क्षेत्र में सर्वोच्च नहीं माना। इस बात की स्वामी जी ने भर्त्सना की है। उन्होंने कहा "जैसे इस्लाम का कोई भक्त कुरान न मानता हो, ईसाइयत के आदर्श की बातें करने वाला बाइबिल न मानता हो, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती, वैसे ही जो हिन्दू-संस्कृति के आदर्शों की रक्षा की बातें करता है, वह किसी हिन्दू वेदादि ग्रन्थों को न मानता हो, यह कम आश्चर्य की बात नहीं।"[१४] यहाँ करपात्री जी की राष्ट्रीयता सच्चे अर्थों में उभरकर प्रस्तुत होती है। पुनश्च, उन्होंने कहा है कि "अनादि-प्रपञ्च का शासक परमेश्वर भी अनादि ही होता है। अनादि से शिष्ट (शासित) जीव एवं जगत् पर शासन करने वाले अनादि शासक परमेश्वर का शासन-संविधान भी अनादि ही होताहै। वही शासन-संविधान 'वेद' है।[१५] वेद के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा थी। वेद के वाक्यों को परिवर्तित परिवेश में अक्षरश: सत्य सिद्ध करने का उन्होंने प्रयास किया है। वेद हमारी संस्कृति और राजनीति के मूल हैं। गोलवरकर जी की राष्ट्रीयता को भी करपात्री जी सच्ची राष्ट्रीयता नहीं मानते। केवल भावना पर्याप्त नहीं है। भारत माँ के प्रति हमारी सच्ची भावना तभी बन सकती है, जब इसके पक्ष में प्रमाण उपलब्ध हों। शास्त्र-प्रमाण के अभाव में केवल भावना कुछ नहीं कर सकती। उन्होंने यह कहा है कि "प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि ही हो सकते हैं। भक्ति या भावना स्वतंत्र रूप से प्रमाजनक प्रमाण नहीं।"[१६] यह तो केवल शास्त्र सम्मत होने पर ही मूल्यवान् होती है। अतएव राष्ट्र भक्ति की कोरी भावना शास्त्रहीन होने पर अमान्य और निरर्थक होगी। गोलवरकर जी की राष्ट्रीयतावादी मान्यताएँ अशास्त्रीय होने के कारण अमान्य हैं।

स्वामी करपात्री की इन आलोचनाओं तथा उनके चुनाव घोषणा से यह स्पष्ट है कि वे धर्म में अत्यन्त कट्टर थे। किन्तु यह कट्टरता परधर्म विरोधी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का कट्टर अनुयायी होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति ही धर्म और समाज को कुछ दे सकता है, किन्तु धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है। यह उसके जीवन का एक पक्ष है और प्रत्येक पक्ष परस्पर स्वतंत्र है। अत: दूसरे पक्ष इससे प्रभावित और दमित नहीं होने चाहिए। इसलिए धर्म भी व्यक्ति के जीवन के राजनीतिक पक्ष का दमनकारी नहीं होना चाहिए। यह सत्य है कि धर्म की मान्यताओं का प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है, किन्तु राजनीतिक सिद्धान्त और राजनैतिक

जीवन का इससे प्रभावित होना आवश्यक नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए भी एक राजनीतिक झण्डे के नीचे रहकर एक राज्य का संचालन समान विचारों के साथ सहयोगपूर्वक कर सकता है। यहाँ कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता।

स्वामी करपात्री जी के पूर्व गोस्वामी तुलसीदास ने '*रामचरित मानस*' में रामराज्य के आदर्श की चर्चा की है। इसके स्वरूप प्रमुखत: उपदेशात्मक है। तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत रामराज्य के सिद्धान्त के विरुद्ध आधुनिक दृष्टि से कुछ आरोप लगाये जाते हैं। प्रथम यह कि वे राजतन्त्र के पक्षधर हैं और राजा तथा प्रजा के भेद को स्वीकार करते हैं। द्वितीय वे सामाजिक-व्यवस्था में वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार करते हैं, जिसमें वर्णगत उच्चता और निम्नता की बात भी सम्मिलित है। यह भेद सामाजिक समता के मार्ग में बाधक है। तृतीय उन्होंने मनुष्यों में भी पुरुष और स्त्री की योग्यताओं का भेद करके स्त्री को गर्हित एवं निन्दनीय कहा है।

इन आरोपों से तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत समाज-व्यवस्था के वर्तमान युग में औचित्य पर प्रश्नचिह्न लग जाता है, किन्तु इन्हें परीक्षण के बिना स्वीकार करना उतना ही गलत होगा, जितना गलत अस्वीकार करना। तार्किक-परीक्षण करने पर निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं।

तुलसीदास के रामराज्य के आदर्श पर लगाया गया प्रथम आरोप कि वह शासक और शासित के भेद को स्वीकार करते हैं, उचित स्पष्टीकरण के बाद समाप्त हो जाता है। रामराज्य में शासक एवं शासित के बीच भेद दिखाई तो पड़ता है, किन्तु न तो शासक शोषक है और न ही शासित शोषित। यहाँ राजा को प्रजा के हित में चिन्तित और प्रयत्नरत चित्रित किया गया है, साथ ही प्रजा भी राजा का हित करना चाहती है। ऐसे समन्वय की स्थिति में तो भेद भी अभेद में बदल जाता है। राजा भारतीय शास्त्रों में 'षष्ठांश भुक्' कहा गया है। वह छठें अंश का (कर के रूप में) भोग करने का अधिकारी है। इस प्रकार के प्रयोग इस ओर संकेत करते हैं कि (कर) दाता स्वेच्छया दे रहा है और संग्राहक (राजा) उसे स्वीकार कर रहा है। इस षष्ठ अंश के बदले कितना दायित्व राजा को सौंपा गया है, वर्गहीन समाजों का अवलोकन करने पर इससे अधिक गहरे भेद दिखाई पड़ेंगे। रामराज्य में शासक सोचता है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।।[१७]

ऐसे शासक का उसकी प्रजा के साथ भेद या विरोध संभव ही नहीं है। इस व्यवस्था में तो शासक और शासित अन्योन्याश्रित हैं तथा संयुक्त रूप से अन्य उच्चतर साध्यों का साधन बने हैं।

द्वितीय आरोप इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु सम्यक् विवेचन से यह आरोप भी समाप्त हो जाता है। तुलसीदास और उनका रामराज्य वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आधारित है। मानस में उन्होंने कहा है—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय शोक न रोग।।[१८]

किन्तु यह वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी भी प्रकार से सामाजिक समता की विरोधी नहीं कही जा सकती। इसी प्रसंग में तुलसीदास ने पुन: कहा है—

सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुतिनीति।।[१९]

जन-मानस में परस्पर प्रीति का संचार होने पर ही सामाजिक एकता संभव है। समता को बाहर से नहीं लाया जा सकता। बाहर से लायी गयी समता स्थायी नहीं होती। स्थायी समता अन्त: स्फूर्ति से ही उत्पन्न होती है। बाह्य समता के अस्थायित्व का प्रमाण आधुनिक युग के साम्यवादी राज्य हैं, जहाँ समता बलपूर्वक लोगों पर लाद दी गयी है। तुलसीदास स्वधर्म के आचरण पर बल देते हैं। स्वधर्म वर्णाश्रम धर्म के अनुरूप ही होता है, किन्तु यह अधिक स्पष्ट कर्त्तव्यों का संकेत करता है। स्वधर्म में स्व पर अधिक बल दिया गया है। इससे यह भी झलकता है कि यह व्यक्ति का धर्म था और व्यक्ति के स्वरूप एवं उसकी स्थिति के अनुसार बदल जाता था। व्यक्ति के स्व का निर्धारण उसके गुण एवं योग्यता के अनुसार होता था। गुण और योग्यता में वृद्धि करके समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त करना सम्भव बताया गया है। **"चातुर्वर्ण्य मयासृष्टं गुण-कर्म विभागश:"**[२०] के माध्यम से गीता भी यही घोषणा करती है कि वर्ण वास्तव में गुण-कर्म के आधार पर नियत होता है, जन्म के आधार पर नहीं। गुण और कर्म से व्यक्तियों के वर्णों में भेद होता है और फिर स्वधर्म भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। किन्तु यह भेद सामाजिक-समता में बाधक नहीं है। व्यक्ति के वैशिष्ट्य को समाप्त नहीं किया जा सकता। आधुनिक समाजवादी विचारक भी "योग्यता एवं आवश्यकता के अनुरूप" की बात करते हैं। इस कथन में भी व्यक्तिगत भेद के विचार अन्तर्निहित हैं। गुण एवं कर्म के आधार पर यदि समाज में कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अधिक उपलब्धि प्राप्त करता है तो इसे प्राकृतिक-भेद कहकर स्वीकार करना ही पड़ेगा। प्रयत्न करके भी इस भेद को नहीं समाप्त किया जा सकता।

तृतीय आलोचना सामाजिक-समता की दृष्टि से अधिक संगत प्रतीत होती है। तुलसीदास ने अनेक प्रसङ्गों में स्त्रियों की निन्दा की है, कभी-कभी तो वे स्त्रियों की अत्यन्त कठोर निन्दा करते हैं **"ढोल गँवार शूद्र पशु नारी"** अथवा **"अवगुण आठ सदार उर रहहीं"** इन जैसे अन्य अनेक प्रसङ्गों में नारी को निन्दित और हेय समझा गया है जिसके आधार पर राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द, कौशल्यायन और अम्बेदकर जैसे कुछ आलोचकों ने यह निगमित किया कि तुलसीदास द्वारा कल्पित रामराज्य में नारी को समाज में अत्यन्त निम्न स्थान दिया गया है। किन्तु तुलसीदास और उनके ग्रन्थों विशेषकर 'रामचरित मानस' का सम्यक् साङ्गोपाङ्ग और अदुराग्रहपूर्ण अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि गोस्वामी जी के नारी संबंधी विचारों की जिन लोगों ने निन्दा की है, वे दुराग्रह से ग्रस्त साधारण जीव थे, जो गोस्वामी जी को ठीक से नहीं समझ सके। **"सिया राम मय सब जग जानी करौं प्रमाण जोरि जुग पानी"** में आस्था रखने वाला व्यक्ति, कीट पतङ्ग में सिया राम का दर्शन करने वाला व्यक्ति कभी नारी निन्दक हो सकता है? मानस में जहाँ

भी नारी की निन्दा की गई है बिल्कुल साधारण और दुष्ट पात्र के द्वारा की गई है। रावण और समुद्र जैसे पात्र जो शस्त्र की ही भाषा समझते हैं विनम्रता और अनुशासन की नहीं, उनसे नारी के प्रति क्या इससे अच्छी टिप्पणी की आशा की जा सकती है? नारी को मात्र उपभोग की वस्तु समझने वाले उसके गरिमा मण्डित मानवसद्धर्मिणी के रूप का दर्शन कैसे कर सकते हैं? गोस्वामी जी एक महान् सन्त थे। अन्य स्थानों पर भी जहाँ नारियों की निन्दा की गयी है, वे स्वैरिणी नारियाँ हैं जो अपने हावभाव और विकास प्रेम से ईश्वर भजन में लीन भक्तजनों को भक्ति मार्ग से विचलित करती हैं। ऐसी नारियों की प्रत्येक साहित्य और धर्म में निन्दा हुई है। शेक्सपियर के नाटकों में पढ़िये "Frailty the name is woman." गोस्वामी ने न केवल स्वैरिणी महिलाओं, अपितु स्वैरी पुरुषों की भी उतनी ही कटु आलोचना की है और उसे कहीं अधिक कठोर दण्ड की व्यवस्था की है। स्वेच्छाचार के कारण शूर्पणखा के नाक-कान काटे जाते हैं तो रावण और बालि का वध किया जाता है। यदि तुलसीदास जी का सही मूल्यांकन किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि वे नारी जाति के कितने महान् उन्नायक थे और समाज में उन्हें कितना ऊँचा स्थान देना चाहते थे। उनकी लेखनी ने पार्वती, कौशल्या, सुमित्रा, अनुसूइया और सीता जैसी देवियों,आर्य-माताओं की बात दूर रही, शबरी, तारा, त्रिजटा और मन्दोदरी जैसी वन्य और राक्षस जातियों से सम्बन्धित नारियों का भी समान आदर के साथ वर्णन किया है और उन्हें चिरकाल के लिए समान रूप से पूज्य बना दिया है। अत: नारी जाति के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा थी, किन्तु उसके आदर्श माता, आदर्श पत्नी, आदर्श पुत्री और आदर्श भक्त आदि के रूप में, स्वैरिणी और प्रमदा रूप में नहीं। नारियों के मर्यादाविहीन आचरण के प्रति उनके मन में आक्रोश था और उनकी असहायावस्था के प्रति सहानुभूति। यही कारण है कि जहाँ वे **'जिमि स्वतन्त्र होई बिगरहि नारी'** का उल्लेख करते हैं, वहीं वे **'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'** कहकर नारियों के दारुण दैन्य के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करते हैं। उपर्युक्त विवेचन से गोस्वामी तुलसीदास की व्यवस्था में नारी पुरुष के सामाजिक स्तर में भेद की बात करना व्यर्थ हो जाता है। समाज सदैव अच्छे की प्रशंसा और बुरे की निन्दा करता है। यहाँ पर तुलसीदास का उद्देश्य आदर्श की स्थापना करना था, इसलिए उन्होंने दोषों को उभार कर निकालने का प्रयास किया। गुणों की स्थापना के लिए दोषों को दूर करना ही पड़ेगा। यही तुलसीदास ने किया है।

रामराज्य, राज्य सम्बन्धी अब तक की गयी कल्पनाओं में सर्वश्रेष्ठ है। पाश्चात्य विचारक एडमर बेबिन्यू ने लिखा है—"इस व्यवस्था में उन्होंने निश्चित रूप से आस्तिक हिन्दू परम्परा का निर्वाह किया है। वेदों और शास्त्रों को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने सामाजिक कर्त्तव्यों पर बहुत जोर दिया है।"[२१] सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करके ही मानव-जीवन के सुख, शान्ति, लौकिक-विकास और आध्यात्मिक-प्रगति को संभव बनाया जा सकता है। अत: आदर्श की दृष्टि से रामराज्य की कल्पना सर्वोच्च है। तुलसीदास की कल्पना करपात्री जी के विचारों में व्यावहारिक रूप लेती है। उसका मूर्त व्यावहारिक रूप अभी नहीं देखा जा सका है।

समीक्षा

करपात्री जी के सामाजिक विचारों का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि वे समाजवाद के पाश्चात्य स्वरूप को अस्वीकार करते हैं। विशेषत: मार्क्सवाद के नाम से प्रचलित समाजवादी सिद्धान्त का वे विरोध करते हैं। मार्क्सवाद द्वारा स्वीकृत समस्त विधियों यथा—व्यक्तिगत-सम्पत्ति की समाप्ति एवं वर्ग-संघर्ष आदि का उन्होंने विरोध किया है। इनका कुछ भी सामाजिक महत्त्व नहीं है। इन विधियों से प्राप्त समानता स्थायी नहीं हो सकती। गाँधी जी भी यही कहते थे और स्वतन्त्रता आन्दोलन के दिनों में सदैव रामराज्य का आदर्श जनता के सामने रखते थे। उनका कथन था कि यदि बुरे रास्तों से स्वतन्त्रता मिल भी गई तो वह स्थाई नहीं होगी। देश एक दिन पराधीन हो जाएगा। इसलिये जनता को संयम और आत्मानुशासन एवं धैर्य के गुण प्राप्त करने चाहिए।

मार्क्सवाद का विरोधी होने पर भी करपात्री जी सामाजिक समानता के विरोधी नहीं थे। राहुल आदि भारतीय मार्क्सवादियों की यह मान्यता कि वे पूँजीवाद के समर्थक थे, असंगत है। मार्क्सवाद के विरोध का अर्थ पूँजीवाद नहीं होता है। सामाजिक समानता के लिए यज्ञ एवं दान की विधियों को स्वामी जी स्वीकार करते हैं। समता उनके लिए भी अभिप्रेत है, किन्तु उसके लिए वे भिन्न विधि का प्रयोग करते हैं।

दान, यज्ञ को सामन्तवादी-प्रवृत्ति का परिचायक माना जाता है। इसके लिये सम्पत्ति की आवश्यकता पड़ती है। व्यक्तिगत-सम्पत्ति के बिना दान का कोई अर्थ नहीं होता। अत: स्वामी जी व्यक्तिगत सम्पत्ति के शास्त्र-सम्मत रूप को स्वीकार करते हैं। सम्पत्ति के एक अंश को दान के रूप में प्रयोग करने का शास्त्र-आदेश, सामाजिक-समानता की एक विधि है और स्वामी करपात्री जी की मान्यता यह है कि यह विधि भारतीय समाज के लिए अधिक उपयुक्त है।

रामराज्य के जिस आदर्श की स्थापना सन्त तुलसीदास ने *रामचरितमानस* में की थी, वह आदर्श मात्र था और धर्म-प्रधान तथा उपदेश प्रधान था, किन्तु करपात्री जी ने उसे राजनैतिक दल का रूप देकर अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट सामाजिक और राजनैतिक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया। व्यावहारिक रूप में उनके विचार कितने सत्य हो पाये, यह भिन्न प्रश्न है। सैद्धान्तिक रूप से उनका आदर्श निश्चय ही सर्वोच्च है, वह सामाजिक-व्यवस्था के रूप में समता, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृत्व को महत्त्व देता है। अत: उसे समाजवाद का विरोधी नहीं स्वीकार किया जा सकता।

सन्दर्भ

१. स्वामी करपात्री, *मार्क्सवाद और रामराज्य*, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०१९.

२. राहुल सांकृत्यायन, *रामराज्य और मार्क्सवाद*, पिपुल्स पब्लिसिंग हाउस, प्रा. लि. नई दिल्ली, १९८१

३. करपात्री स्वामी, '*राहुल की भ्रांति*', गीता प्रेस, गोरखपुर।

४. *भागवत*, ५/१८/९

५. करपात्री स्वामी, *मार्क्सवाद और रामराज्य*, पृ. २५५-५६

६. वही, पृ. २५४

७. वही, पृ. २६३

८. महाभारत, उद्योग पर्व, ३३/६०

९. करपात्री स्वामी, *मार्क्सवाद और रामराज्य*, पृ. २७०

१०. वही, पृ. २७५

११. *अखिल भारतीय रामराज्य परिषद् का चुनाव घोषणापत्र*, प्रकाशक श्री सन्तशरण वेदान्ती, धर्मसंघ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, १९७७, पृ. २

१२. वही, पृ. ३

१३. वही, पृ. ३-४

१४. स्वामी करपात्री, *विचार पीयूष*, श्री सन्तशरण वेदान्ती, प्रचार मन्त्री, अखिल भारतीय रामराज्य परिषद्, वाराणसी, १९७५, पृ. २४६

१५. वही, पृ. २४६

१६. वही, पृ. २४६

१७. तुलसीदास, *रामचरित मानस*, उत्तरकाण्ड, दोहा ६०, चौ. ६

१८. तुलसीदास, *रामचरित मानस*, उत्तरकाण्ड, दोहा २०

१९. तुलसीदास, *रामचरित मानस*, उत्तरकाण्ड, दोहा चौ. २

२०. *गीता*, अध्याय ४, श्लोक १३

२१. *लव आफ गाड एण्ड सोशल ड्यूटी इन द रामचरित मानस*, जे. एडमर बेबीन्यू, मोतीलाल बनारसीदास, १९७९, पृ. १३२

प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद- २११००२
चलवाणी- ०९४५०९६१७३६

❑

स्वामी करपात्री जी का वाङ्मय वैभव

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र

स्वामी करपात्री जी द्वारा वैदिक सनातन धर्म तथा भारतीय समाजदर्शन को सन्मार्ग की दिशा में प्रवर्तित करने के लिए संस्कृत तथा हिन्दी भाषाओं में अनेक ग्रन्थों की रचना की गई। इनमें प्रथमत: संस्कृत भाषा के ग्रन्थों का परिचय निम्नलिखित है—

संस्कृत भाषा में निबद्ध ग्रन्थ

१. वेदप्रामाण्यमीमांसा

सर्वशास्त्र मूलभूत वेदों के प्रामाण्य की सर्व-सिद्धान्त स्वीकार्य स्थापना के लिए करपात्री स्वामी जी ने '*वेदप्रामाण्यमीमांसा*' नामक प्रकरण ग्रन्थ का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ में प्रामाण्यवाद, वेदापौरुषेयत्व, वेदप्रामाण्य तथा अध्ययन विधि-विचार—ये मुख्य विषय हैं। शास्त्रीय शैली में संस्कृत भाषा में निबद्ध इस ग्रन्थ (पृष्ठ सं. ७८) का प्रथम संस्करण चैत्र पूर्णिमा २०१७ वि. (१९६० ई.) में धर्मसङ्घशिक्षामण्डल ग्रन्थमाला, काशी के पञ्चम प्रसून के रूप में प्रकाशित हुआ है।

२. भक्तिरसार्णव:

स्वामी करपात्री जी महाराज ने वैदिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के लिए ज्ञान के समग्र पक्षों पर मौलिक विचार तथा मान्यताओं को दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित किया। इसी क्रम में समग्र विश्व के साहित्य चिन्तन को पारम्परिक दृष्टि से नवीन दिशा प्रदान करते हुए रससिद्धान्त को अपने *भक्तिरसार्णव* नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित किया। '*भक्तिरसार्णव*' आधुनिक काव्यशास्त्र में अभिनव मार्ग प्रदर्शित करते हुए भक्ति को सर्वोत्कृष्ट रस के रूप में निरूपित करता है। रससिद्धान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि का निरूपण इस ग्रन्थ की अपूर्व विशेषता है। *भक्तिरसार्णव* का प्रथम संस्करण अनन्त चतुर्दशी २०२५ विक्रमाब्द (ई. १९६८) में भक्तिसुधासाहित्यपरिषद्, कलकत्ता से प्रकाशित है। इस ग्रन्थ में ग्यारह अवान्तर प्रकरणों के अन्तर्गत मुख्य अष्टम प्रकरण में भक्तिरस का प्रतिष्ठापन काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के विश्लेषण द्वारा किया गया है।

३. वेदस्वरूपविमर्शः

भारतीय मनीषा के लिए परम प्रमाणभूत ग्रन्थ वेद हैं। सभी प्राचीन आचार्यों ने अपने शास्त्र के सिद्धान्तों को वेदानुगत तथा वेदानुमत प्रतिपादित करते हुए गौरव तथा प्रामाणिकता का अनुभव किया है। इस सुदृढ़ परम्परा को शिथिल करने की भावना से वैदेशिक तथा तदनुसृत आधुनिक अनेक भारतीयों ने भी वेद के सम्बन्ध में विविध आक्षेप तथा विरुद्ध तर्कों का विस्तार किया है। स्वामी करपात्री जी ने आक्षेपों के निराकरण के लिए तथा वेद के अनादि, अनन्त, अपौरुषेय स्वरूप के सुदृढ़ उपस्थापन हेतु *वेदस्वरूपविमर्श* नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। इस ग्रन्थ (४४७ पृष्ठों में निबद्ध) में चार अवान्तर विभाग हैं—१. वेदस्वरूपविमर्शः, २. वेदप्रामाण्यविमर्शः, ३. वेदपौरुषेयत्वविमर्शः तथा ४. ब्राह्मणानां वेदत्वविमर्शः। वेद के स्वरूप, प्रामाण्य, अपौरुषेयत्व तथा ब्राह्मणों के प्रामाण्य का युक्तितर्क-प्रमाणपूर्वक निरूपण करने वाले इस वेदस्वरूपविमर्शः ग्रन्थ का प्रथम संस्करण भक्ति सुधा साहित्य परिषद्, कलकत्ता से अनन्त चतुर्दशी २०२६ विक्रमाब्द (ई. १९६९) में प्रकाशित हुआ है।

४. चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्शः

भारतीय संस्कृति के वास्तविक स्वरूप तथा चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के प्रतिपादन के लिए आधुनिक मतों, जिज्ञासाओं तथा समस्याओं के समाधान हेतु स्वामी करपात्री जी ने '*चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्शः*' ग्रन्थ की रचना की। इसका प्रथम भाग जन्माष्टमी २०३० विक्रमाब्द (१९७३ ई.) में श्रीगोवर्धनमठ, पुरी से प्रकाशित है। इसके अन्तर्गत जन्म, वर्णवाद, वर्णद्वयवाद, एकवर्णवाद, आजीविकावर्णवाद, वर्ण सम्बन्धी विचार तथा वेदाध्ययन अधिकार—ये विषय क्रमशः निरूपित किये गये हैं।

५. वेदार्थपरिजात भाष्य (माध्यन्दिनीयसंहिता)

भारतीय संस्कृति के लिए बीसवीं शताब्दी की अद्वितीय उपलब्धि के रूप में स्वामी करपात्री जी कृति वेदार्थ पारिजात भाष्य है। भारत के समग्र ज्ञान, विज्ञान, संस्कृति तथा परम्परा के मूल स्रोत तथा परम प्रमाण के रूप में मान्य वेदों के विषय में विदेशी एवं आधुनिक दृष्टि से उद्भावित अनेक आक्षेप, समस्या तथा जिज्ञासाओं के निराकरण, खण्डन तथा समाधान करते हुए आर्ष शास्त्रोक्त सनातन सिद्धान्तों के प्रतिष्ठापन के उद्देश्य से स्वामी करपात्री जी ने प्रौढ वयस् में वेदभाष्य की रचना का निर्णय किया। यज्ञार्थता में यजुर्वेद का प्रामुख्य होने के कारण तथा स्वयं माध्यन्दिनशाखीय होने के कारण स्वामी जी ने प्रथमतः माध्यन्दिनीय संहिता का भाष्य प्रणयन किया। स्वामी जी के भाष्य का नाम *वेदार्थपरिजातभाष्य* है। इस भाष्य की विशालता तथा विषय गाम्भीर्य का परिचय इसकी २२७४ पृष्ठों में दो बृहत् खण्डों में मुद्रित भूमिका से ही प्राप्त हो जाता है। सभी आर्ष सनातन वैदिक सिद्धान्तों के प्रतिष्ठापन में स्वामी जी ने विविध प्रकार के मतवादों, पूर्वपक्षों के उपस्थापन सहित प्रमाण, तर्क, युक्तियों से उनका खण्डन किया है। एतदर्थ स्वयं स्वामी जी ने प्रारम्भ में लिखा है—

प्राचामाचार्यवर्याणां निकषेषु परीक्षितान्
मीमांसागूढसिद्धान्तसिद्धानर्थान् विचक्ष्महे।।२७।।
अद्ययावदुपेतानां महतीनां दृढात्मनाम्।
शङ्कानामितरासां वा समीक्षाश्च विदध्महे।।२८८।।

इस भाष्य का निर्माणारम्भ—अक्षय तृतीया, गुरुवार २०३१ विक्रमाब्द में (अथवा इससे पूर्व) हो गया था, यह आरम्भिक पद्य (सं. ३०, ३१) से ज्ञात होता है। भूमिका २०३७ वि. में पूर्ण हुई यह भी अन्तिम पद्य में उल्लिखित है। इसके अनन्तर सम्पादन, मुद्रण, प्रकाशन, समय-समय पर होता रहा तथा स्वामी जी का लेखन कार्य भी प्रचलित रहा। सम्पूर्ण माध्यन्दिनीय संहिता पर वेदभाष्य भूमिका सहित कुल दस भागों में प्रकाशित है। प्रत्येक भाग के प्रकाशन आदि का विवरण निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है—

वेदार्थपारिजातभाष्य का विवरण

क्र. सं.	**ग्रन्थांश विवरण**	**पृष्ठ संख्या**	**प्रथम संस्करण प्रकाशन वर्ष**	**विषय**
१.	भाष्यभूमिका—प्रथम खण्ड	१-९०८	१९७९ ई. (२०३६ वि.)	प्रमाणविचार, वेदप्रामाण्य, वेदापौरुषेयत्व, ईश्वरसिद्धि, वेदनित्यत्व, ब्राह्मणभाग-वेदत्व।
२.	भाष्यभूमिका—द्वितीय खण्ड	९०९-२२७४	१९८० ई. (२०३७ वि.)	पाश्चात्यमतखण्डन, ब्रह्मविद्या, सृष्टिविद्या, मुक्ति, पुनर्जन्म, वर्णाश्रमधर्म, श्रौतयज्ञ, शाब्दबोध आदि विचार।
३.	भाष्य — प्रथम अध्याय	१-२९६	२०४३ वि.	स्वाध्यायविधिविचार, दर्शेष्टि
४.	भाष्य — द्वितीय, तृतीय अध्याय	१-२४४	२०४६ वि.	इष्टि, अग्न्याधान, पिण्डपितृयज्ञ
५.	भाष्य — ४-६ अध्याय	१-२१५ तथा १.८२	२०४९ वि.	सोमयाग (ज्योतिष्टोम)
६.	भाष्य — ७-१० अध्याय	१-३७२	२०४९ वि.	सोमयाग, वाजपेय, राजसूय याग

क्र. सं.	ग्रन्थांश विवरण	पृष्ठ संख्या	प्रथम संस्करण प्रकाशन वर्ष	विषय
७.	भाष्य — ११-१५ अध्याय	१-४५६	२०४८ वि.	अग्निचयन
८.	भाषा — १६-२० अध्याय	१-३६०	२०४८ वि.	शतरुद्रिय, चित्यपरिषेकादि, वसोर्धारा, सौत्रामणि
९.	भाष्य — २१ से ३० अध्याय तथा ३१ से ३९ अध्याय	१-३२०	२०४८ वि.	सौत्रामणि, अश्वमेध, खिल, पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृमेध, प्रवर्ग्य
१०.	भाष्य — ४०वाँ अध्याय	२३४	२०४४ वि.	ईशावास्याध्याय

वेदार्थपारिजातभाष्य पूर्ववर्ती वेदभाष्यों से अनेक दृष्टि से विशिष्ट है। इसमें वेद मन्त्रों का अर्थ ब्राह्मणानुमोदित, उपनिषत्सिद्धान्तानुकूल, स्मृतिशास्त्रानुसृत तथा पुराणोपवेदेतिहास-वेदाङ्गोपाङ्गादि आर्षशास्त्रों के प्रमाण वचनों से परिपुष्ट रीति से किया गया है। इसके अनुसार वेदार्थ सार्वकालिक, सार्वदैशिक तथा समस्त प्राणियों के उपकार हेतु है। इसका लौकिक ज्ञान-विज्ञान अर्थ मानने पर प्रत्यक्षानुमानादि से उपलब्ध उपायों का ही निर्देशक होने के कारण नित्यता बाधित हो जाती है तथा गुरु, शिष्य, राजा आदि के लिए उपदेशक अर्थ मानने पर सृष्टि के समस्त प्राणियों के लिए न होकर एकदेशीय सङ्कीर्ण हो जाता है। अत: यागानुसारी अर्थ ही द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, सभी के अधिकारियों के लिए उचित है। इस दृष्टि से स्वामी जी ने वेदभाष्य में स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक, आधिदैविक, अधियज्ञ, उपासना, योग तथा दर्शन आदि अनेक आर्ष मार्गों का निर्देश एक ही मन्त्र के अर्थ में किया है तथा उसका समन्वय ब्राह्मणग्रन्थों से प्रारम्भ कर उपनिषद्, स्मृति, रामायण, पुराण, वेदाङ्ग आदि समस्त शास्त्रों के वचनों से प्रतिपादित किया है। इसी प्रसङ्ग में प्रत्येक मन्त्र में आधुनिक विदेशी तथा भारतीय लेखकों के आर्ष परम्परा से विरुद्ध अर्थों का तर्क-युक्ति-प्रमाणों द्वारा स्वामी ने खण्डन किया है एवं वेङ्कटमाधव, सायण, उव्वट, हलायुध, महीधर आदि पूर्ववर्ती भाष्यकारों के परम्परानुगत अर्थों का सादर उल्लेख किया है। अत: *वेदार्थपारिजातभाष्य* वेदभाष्य परम्परा में सर्वातिशायी प्रामाणिक तथा सर्वोपकारक भाष्य है।

६. श्रीविद्यारत्नाकर:

आद्यशङ्कराचार्य द्वारा प्रवर्तित श्रीविद्योपासना का सम्प्रदाय दक्षिण भारत के कुछ भागों में ही विरल रूप में प्रचलित था। इसका उत्तर भारत में पूर्ण प्रवर्तन तथा देश के समस्त भागों याग-अनुष्ठान आदि के द्वारा

प्रचार स्वामी जी के द्वारा लोक-कल्याण के लिए किया गया। उपासकों के लिए दीक्षा, पूजा, होम, जप तथा आचार आदि के ज्ञान के लिए कोई समग्र प्रयोग ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था। स्वामी करपात्री जी ने आगम के ग्रन्थों से सार एकत्र कर श्रीविद्योपासना हेतु *श्रीविद्यारत्नाकर* नामक प्रयोग ग्रन्थ की प्रथमतया रचना की। इसमें भगवती ललिता महात्रिपुरसुन्दरी के आराधना की साङ्गोपाङ्ग विधि वर्णित है। आगमोक्त कालीक्रम, श्रीक्रम, हादिविद्या आदि अनेक गूढ़ रहस्यों को इसमें स्वामी जी ने स्पष्ट निरूपित किया है। इसका प्रकाशन १९७३ ई. को हुआ है।

७. श्रीविद्यावरिवस्या

स्वामी करपात्री जी की उपास्य देवता भगवती श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी की आराधना को शिष्य-भक्तजनों के लिए सुलभ कराने हेतु इस ग्रन्थ की रचना हुई। स्वामी जी ने इसमें श्रीविद्योपासना के प्रयोग-प्रतिपादक अपने पूर्वप्रणीत ग्रन्थ *श्रीविद्यारत्नाकर* की श्रीक्रम-आराधना को सार रूप में उपदिष्ट किया है। इस ग्रन्थ में आह्निकप्रकरण, सपर्यापकरण तथा होमप्रकरण है। अन्त में परिशिष्ट भाग है। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन १९७९ ई. में किया गया है।

हिन्दी भाषा में निबद्ध ग्रन्थ

स्वामी करपात्री जी द्वारा हिन्दी में प्रणीत रचनाओं का सङ्क्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

१. मार्क्सवाद और रामराज्य

स्वामी करपात्री जी द्वारा प्रणीत यह अपूर्व ग्रन्थ भारतीय राजशास्त्र और अर्थशास्त्र का विश्वादर्श है। यद्यपि इसके शीर्षक में मार्क्सवाद का ही उल्लेख है, परन्तु इस महाग्रन्थ में विश्व में प्रचलित सभी नीति-वादों की दार्शनिक-सामाजिक पृष्ठभूमि को पूर्वपक्ष में उपस्थित करते हुए स्वामी जी ने उनका आर्ष शास्त्रों के उद्धरणों तथा सामयिक उदाहरणों से प्रमाण खण्डन किया है तथा भारतीय अर्थनीति और राजशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिष्ठापन किया है। इस महाग्रन्थ (११५२ पृष्ठों में निबद्ध) में चौदह परिच्छेद हैं। इनके विषय क्रमशः इस प्रकार हैं—पाश्चात्य दर्शन, पाश्चात्य राजनीति, आधुनिक विचारधारा, विकासवाद, मार्क्सीय वाद, वर्गसङ्घर्ष, मार्क्सीय अर्थव्यवस्था, ऐतिहासिक भौतिकवाद, मार्क्सदर्शन, मार्क्सीय समाज व्यवस्था, मार्क्स और ज्ञान, मार्क्स और आत्मा, मार्क्स और ईश्वर, उपसंहार।

इन अवान्तर परिच्छेदों में भी मार्क्सवाद उपलक्षण हैं। वस्तुतः हीगेल, प्लेटो, अरस्तू, रूसो, काण्ट, ब्रेडले, डार्विन, एंजिल्स, स्पेंसर, आदि समस्त विदेशी लेखकों के मतों को निरस्त करते हुए क्रमशः राज्यदर्शन, समाजदर्शन, सृष्टि, जाति, सम्पत्ति, वितरण, श्रम, कर, लाभ, स्वतन्त्रता, ज्ञान, आत्मा आदि समस्त विषयों को शास्त्रीय दृष्टि से करपात्रीजी ने परिभाषित किया है तथा उपसंहार में भारतीय राजनीति दर्शन

का शास्त्रीय विधान प्रतिपादित किया है। परिशिष्ट भाग में रामराज्य का स्वरूप निरूपित है। इस प्रकार यह महाग्रन्थ भारतीय राज्यदर्शन के सर्वाङ्गीण स्वरूप का विश्वादर्श प्रस्तुत करता है।

इस ग्रन्थ के लेखन का आरम्भ स्वामी जी ने १९५३ ई. में दिल्ली के कारागार में प्रथमत: संस्कृत भाषा में किया था। तदनन्तर १९५५ में पुन: काशी कारागार में ही इसको आगे बढ़ाया तथा तदनन्तर काशी में चातुर्मास्य में ग्रन्थ लेखन चलता रहा। इसके अंशों का लेख रूप में प्रकाशन 'सिद्धान्त' पत्र में भी धारावाहिक रीति से किया गया।

समस्त लिखित सामग्री का संयोजन कर इसका ग्रन्थाकार में प्रकाशन सर्वप्रथम १९५७ ई. (२०१४ वि.) में गीताप्रेस, गोरखपुर द्वारा किया गया। गीताप्रेस से इस महनीय ग्रन्थ के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थ की सार्वकालिक सार्वभौम उपकारकता का प्रमाण यही है कि लेखन के समय विश्व में पूर्ण प्रतिष्ठित मार्क्सवाद की हानियों को स्वामी जी ने इङ्गित किया था, उनके ही कारण अब मार्क्सवाद विश्व में समाप्त हो चुका है तथा ऋषि-मनीषा इस महाग्रन्थ में प्रत्यक्ष होती है।

२. अहमर्थ और परमार्थसार

यह पुस्तक स्वामी करपात्री जी द्वारा 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस श्रुति वाक्य के अर्थ विचार हेतु विरचित है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार स्वामी जी ने 'अहं' पद का लक्ष्यार्थ निर्विशेष चैतन्य है यह प्रतिपादित किया है। आद्य शङ्कराचार्य ने निर्विशेष ब्रह्म को 'अहं' पद का लक्ष्यार्थ माना है तथा रामानुजाचार्य सविशेष ब्रह्म को 'अहं' पद का वाच्यार्थ मानते हैं। शाङ्कर सम्प्रदाय के प्रति अन्य परवर्ती आचार्यों द्वारा उत्थपित शङ्काओं का निवारण करपात्री जी ने इस पुस्तक में किया है। मुख्यत: श्री नीलमेघाचार्य के 'आत्ममीमांसा' का निराकरण इसमें किया गया है।

इसके खण्डन की दृष्टि से श्री त्रिदण्डी स्वामी ने *अहमर्थविवेक* नामक पुस्तक में आलोचना प्रस्तुत की, जिसका समाधान स्वामी करपात्री जी के सान्निध्य में रहते ही *अहमर्थविवेकसमीक्षा* नामक पुस्तक द्वारा पं. रघुनाथ शर्मा ने प्रस्तुत कर दिया था। *अहमर्थविवेकसमीक्षा* बिहार धर्म सङ्घ शाखा बन्धुछपरा (भोजपुर) द्वारा १९६४ ई. प्रकाशित हुई है।

३. रामायणमीमांसा

आर्ष परम्परा के परम आदर्श भगवान् श्रीरामचन्द्र का चरित भारतवर्ष ही नहीं, विश्व के अनेक देशों में भी प्रचारित है। वाल्मीकिकृत रामायण तथा तुलसीदासकृत रामचरितमानस भारतवर्ष में रामकथा के लिए मुख्यत: प्रसिद्ध हैं। परन्तु अनेक विदेशी तथा आधुनिक लेखकों तथा फादर कामिल बुल्के द्वारा रामकथा के लिए प्रकाशित विकृत विचारों का निराकरण स्वामी करपात्री जी ने *रामायणमीमांसा* ग्रन्थ में युक्ति, तर्क प्रमाण

तथा परम्परा के आधार पर सुदृढ़ रीति से किया है। एक हजार पृष्ठों के इस विशाल ग्रन्थ में बाईस अध्याय हैं। इसके अनन्तर प्रथम परिशिष्ट में श्रीरामोपासना की वैष्णवागम, उपनिषद् तथा स्मृतियों के अनुसार विशिष्ट पद्धति भी वर्णित है। वर्षपर्यन्त विविध तिथियों में श्रीरामचन्द्र की विशिष्ट सपरिकर पूजादि विधि भी इसकी विशेषता है। *रामायणमीमांसा* के षष्ठ संस्करण का प्रकाशन २०१२ ई. में राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, वृन्दावन द्वारा किया गया है।

४. सङ्कीर्तनमीमांसा एवं वर्णाश्रममर्यादा

स्वामी करपात्री जी द्वारा रचित इस पुस्तिका के तीन परिच्छेदों में क्रमशः सङ्कीर्तनमीमांसा, वर्णाश्रममर्यादा तथा साङ्गवेदाध्ययन—ये तीन विषय वर्णित हैं।

५. राष्ट्रीय स्वयंसेवक सङ्घ और हिन्दू धर्म

भारत की राजनीतिक विचारधारा को दिशा प्रदान करने वाले इस ग्रन्थ की रचना का आधार प्रायः १९६० ई. में रखा गया, यह प्रकाशकीय वक्तव्य से ज्ञात होता है। कार्मिक पूर्णिमा २०२७ विक्रमाब्द (१९७० ई.) में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। स्वामी करपात्री जी ने सामयिक राजनीति में प्रचलित साम्यवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद, पूँजीवाद आदि धारणाओं के दोषों का विश्लेषण करते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक सङ्घ के माध्यम से समस्त सङ्गठनों को भारतीय शासन नीति के पालन के इस ग्रन्थ (२३२ पृष्ठात्मक) में उद्बोधित किया है। एतदर्थ ग्रन्थ को प्रामाण्य विचार, हिन्दू और उसका अधिकार, धर्म और संस्कृति, राष्ट्रीयता, साम्यवाद, सङ्घ की कार्यशैली—इन ६ प्रकरणों में विभाजित किया गया है तथा मुख्यतः प्राचीन शासन प्रणाली के शास्त्रीय सिद्धान्तों की वर्तमान युग में अपरिहार्यता का सप्रमाण प्रतिपादन किया गया है। इसका नवीन संस्करण २०१३ ई. के महाकुम्भ के अवसर पर श्रीकरपात्री धाम, वाराणसी से प्रकाशित किया गया है।

६. सनातन संविधान

राजनीति को यथार्थ दिशा देने वाली इस लघुपुस्तिका (२० पृष्ठ) में स्वामी करपात्री जी ने सृष्टि के प्रारम्भ की रीति से आरम्भ करते हुए वर्तमान शासन की नीति का ग्राह्य स्वरूप उपदिष्ट किया है। यह श्रीकरपात्री धाम, वाराणसी से प्रकाशित है।

७. क्या सम्भोग से समाधि सम्भव

स्वामी करपात्री जी ने सनातन संस्कृति में जीवन के चतुर्विध पुरुषार्थों के निरूपण की दृष्टि से जनसामान्य की सुविधा के लिए हिन्दी भाषा में पृथक्-पृथक् ग्रन्थों की रचना की है। धर्म पुरुषार्थ के लिए—चातुर्वर्ण्य संस्कृतिविमर्श, रामायणमीमांसा, सङ्कीर्तनमीमांसा और वर्णाश्रमधर्म आदि अनेक ग्रन्थ हैं। अर्थ पुरुषार्थ के निरूपण के लिए मार्क्सवाद और रामराज्य, पूँजीवाद, समाजवाद और रामराज्य, धर्म और राजनीति आदि

ग्रन्थ है। मोक्ष पुरुषार्थ के प्रतिपादन के लिए अहमर्थ और परमार्थसार, भागवतसुधा आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन स्वामी जी ने किया।

कामपुरुषार्थ के शास्त्रीय स्वरूप के प्रतिपादन की दृष्टि से 'क्या सम्भोग से समाधि सम्भव' नामक पुस्तक की रचना स्वामी जी द्वारा की गयी। यद्यपि यह प्रतीत होता है कि रजनीश की पुस्तक 'सम्भोग से समाधि की ओर' के खण्डन के लिए इसकी रचना हुई। परन्तु वस्तुत: स्वामी जी ने रजनीश मत खण्डन के प्रसङ्ग से इस पुस्तक (११२ पृष्ठात्मक) में कामपुरुषार्थ के शास्त्रीय दृष्टिकोण का उपदेश किया है। तीन प्रकरणों में विभक्त इस पुस्तक में श्रुति, पुराण, महाभारत, रामचरितमानस आदि के वाक्यों को उद्धृत करते हुए काम के सन्दर्भ में भारतीय चिन्तन को स्पष्ट किया गया है। यह पुस्तक श्रीकरपात्री धाम, वाराणसी से प्रकाशित है। इसकी रचना १९७६ ई. में हुई।

८. कालमीमांसा

इस पुस्तिका में महाभारत एवं रामायण के काल निर्धारण का स्वरूप स्वामी करपात्री जी द्वारा उपदिष्ट है। स्वामी जी के सम्मुख प्रवर्तित २०३३-३४ विक्रमाब्दों में प्रयाग एवं काशी में काल विचार के लिए आयोजित विद्वच्चर्चा के अनन्तर पाश्चात्य मतों का खण्डन करते हुए पूज्य स्वामी जी ने सिद्धान्त के रूप में रामायण एवं महाभारत के काल विचार का शास्त्रीय निष्कर्ष इसमें प्रतिपादित किया है। यह प्रथमत: २०३५ विक्रमाब्द (ई. १९७८) में प्रकाशित है।

९. सङ्घर्ष और शान्ति

स्वामी करपात्री जी के सन्मार्ग एवं सिद्धान्त पत्रों में मुद्रित धर्म, दर्शन, भक्ति, मुक्ति, संस्कृति, समाज तथा शान्ति आदि विषयों के २७ लेखों का सङ्कलन इस पुस्तक (२०० पृष्ठात्मक) में प्रकाशित है। १९९३ में सङ्कलित कर करपात्री धाम, वाराणसी से इसका प्रकाशन हुआ है। इसका चतुर्थ संस्करण २००१ ई. में प्रकाशित है।

१०. भागवतसुधा

श्रीमद्भागवत पर स्वामी करपात्री जी के सप्ताहव्यापी प्रवचनों का सङ्कलन इस ग्रन्थ में (२९४ पृष्ठ) प्रकाशित है। इसका सङ्कलन मार्च १९८१ (होलिकोत्सव २०३७ विक्रमाब्द) में वृन्दावन में किया गया था। श्रीमद्भागवत के दार्शनिक, आधिदैविक तथा शास्त्रीय सार का प्रतिपादन इस ग्रन्थ के आठ पुष्पों में स्वामी जी द्वारा किया गया है। राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान से यह ग्रन्थ (प्रथमत: १९८४ में) प्रकाशित है।

११. श्रीराधासुधा

स्वामी करपात्री जी द्वारा वृन्दावन में राधासुधानिधि स्तर पर १९७९ तथा १९८० में किये गये प्रवचनों का सङ्ग्रह *श्रीराधासुधा* ग्रन्थ (२८५ पृष्ठात्मक) में है। १९८५ में (होलिका २०४२ वि.) में इसका सम्पादन कर राधाकृष्णधानुका प्रकाशन संस्थान द्वारा इसका प्रकाशन किया गया है। इस ग्रन्थ के द्वादश पुष्पों के अन्तर्गत ज्ञान, भक्ति तथा उपासना की दृष्टि से श्रीराधातत्त्व का रहस्योद्घाटन है।

१२. विचारपीयूष

स्वामी करपात्री जी के इतिहास, नीति, धर्म, सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक नीति तथा जनतान्त्रिक राजव्यवस्था आदि विषयों से सम्बन्धित विचारों का सङ्ग्रह ग्रन्थ *विचारपीयूष* (६८६ पृष्ठात्मक) है। श्रुति, स्मृति, पुराण, अर्थशास्त्र आदि के उद्धरणों तथा युक्ति-तर्कपूर्वक आधुनिक साम्यवाद, राजनीतिवाद, धर्महीन राष्ट्रवाद आदि की असङ्गत धारणाओं का निराकरण इस ग्रन्थ में किया गया है। इस ग्रन्थ के तीन भागों के शीर्षक इस प्रकार हैं—१. भारतीय राजनीति, २. आधुनिकवाद तथा ३. सुधारक हिन्दू और शास्त्रीय सनातन धर्म। इसका प्रकाशन श्रीकरपात्री धाम, वाराणसी द्वारा किया गया है।

१३. करपात्रचिन्तन

स्वामी जी के विभिन्न स्थानों पर प्रकाशित दर्शन, समाज, राजनीति, संस्कृति, इतिहास आदि विषयक लेखों का सङ्ग्रह इस पुस्तक (२३६ पृष्ठात्मक) में प्रकाशित है। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण १९९४ में श्रीकरपात्रीधाम, वाराणसी द्वारा प्रकाशित किया गया है।

१४. रासरहस्य

इस पुस्तिका का मूल स्रोत करपात्री स्वामी जी प्रवचन सङ्कलन *रास का अर्थ और प्रयोजन* नाम से प्रकाशित लघु पुस्तिका है। १९९० ई. में सन्मार्ग के श्रीकृष्ण-विशेषाङ्क में इसका पुनर्मुद्रण हुआ तथा २०६३ वि. (२००६ ई.) में *रासरहस्य* नाम से यह प्रकाशित हुई। इसमें रासलीला का आध्यात्मिक रहस्य इन्द्रियात्मक गोपालक जीवों की बुद्धिवधू के अविद्यावरण का निरास करने आदि की दृष्टि से स्वामी जी द्वारा निरूपित किया गया है।

संस्कृतविभाग, कला संकाय,
काशू हिन्दी विश्वविद्यालय,
वाराणसी- ५

❑

शाक्त एवं शैवमत में वाक्तत्त्व

प्रो. रमाकान्त आङ्गिरस

भाषा, वाक् अथवा शब्द सम्बन्धी विज्ञान को लेकर पूर्व पश्चिम के चिन्तकों ने भरपूर चर्चा की है। क्योंकि सारा चिन्तन ही भाषा या वाक्-व्यापार के माध्यम से हुआ है अत: वाक्-चिन्तन की धारा का नैरन्तर्य भी यदि किसी शाश्वतिक माध्यम से अबाधरूप में हुआ है तो वह भाषा के कारण हुआ है। अत: मानव के मूल के स्रोतों की छान-बीन करने वाले मनीषियों ने अब तक भाषा की डोरी को थाम कर ही अपने अथवा विश्वात्मक, सत्य को समझने का औचित्यपूर्ण साहस किया है। भाषा का समग्ररूप क्योंकि शब्द अथवा पद हैं, अत: उसी को अपनी प्रयोगविधि का आधार बनाकर भारत में शब्दगत अध्ययन की दो धाराएँ सूझ पड़ती हैं। एक धारा वह जो बराबर इस मान्यता के साथ लगकर बहती है कि वस्तुसत्ता के जगत् का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह जगत् भाषा या शब्द से निरपेक्ष होते हुए भी वाक् या शब्द के माध्यम से व्याख्यायित होता रहता है। नामात्मक जगत् मानवीय चेतना अथवा मानस की वह प्रतिच्छाया है जो वस्तुगत तथ्यों को मानवीय सन्दर्भ में परिभाषित करती रहती है। वह वस्तुसत्ता की प्रतिनिधि न होकर अपनी प्रतीतियों, बोधों और संवेदनाओं का ही प्रतिनिधित्व करती है। रूपात्मक जगत् की वास्तविकता से यदि वह भाषा ठीक मेल खाती है तो वह यथार्थानुभव का सर्जन करती है। उसकी वर्णनात्मकता यथार्थपरक है। अन्यथा वह विपर्यय, विकल्प, एवं भ्रम को रच लेती है। भाषा एक ऐसी सङ्केतों की शृङ्खला है जिसकी रचना हम अपने बोधों की सुविधा के लिए करते आये हैं।

चिन्तक समुदाय का दूसरा दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है। उनके विचार में शब्द की अपनी मौलिक वस्तुसत्ता है। उसकी सत्ता के कारण ही मानवता का सारा व्यवहार-जगत् गतिशील है। बिना पद के पदार्थ के अस्तित्व का मूल्याङ्कन असम्भव है। अत: पदार्थ का एक सत्तारूप है दूसरा कल्पना-रूप है। शब्द का सम्बन्ध वस्तु के सत्तारूप के साथ ही है और वस्तुरूपता का सम्बन्ध मानव की कल्पना से है। इस प्रकार वाक् सत्ताद्वयता का अभिधेयता के साथ सम्बन्ध बनाती रहती है।

पद का पदार्थ से पारमार्थिक सम्बन्ध है जो नियतिकृत है। पद और पदार्थ के सम्बन्ध की यथार्थता में संशय तो केवल व्यावहारिकता के जगत् के वैषम्य से उदय होता है। अन्यथा हमारे दार्शनिकों के मत में पदार्थ का अभिधेय होना एक आवश्यक नियम नहीं होता। यह ठीक है कि भाषा का एक अपना जगत् है जिसे

'लिंग्विस्टिक यूनिवर्स' कह सकते हैं। किन्तु इस जगत् की उदय और स्थिति सत्ता के जगत् में ही हैं। और जब यह मान लिया जाए कि शब्द आकाश का गुण है **आकाशस्य तु विज्ञेय: शब्दो वैशेषिको गुण:** तो फिर यह शब्द ध्वन्यात्मक रूप में आकाश या बाह्याकाश में से उठता है तथा वर्णात्मक रूप में देहस्थ चिदाकाश में से उठता हुआ वागिन्द्रिय की सहायता से नाना मूर्तियों को धारण कर हमारे वस्तु-जगत् में, व्यवहार-जगत् के एवं भाव, कल्पना और विचार-जगत् के समस्त व्यवहारों को आत्मसात् कर लेता है। इसी सन्दर्भ में दण्डी एवं भर्तृहरि सङ्केत करते हैं "यदि यह शब्द नामक ज्योति मानव के पास हो तो सारे भुवनों का व्यवहार ही खण्डित हो जाए।" और फिर जिस प्रकार अन्य पदार्थ की अनादिकालिक सत्ता है वैसे ही शब्द भी अनादिकालिक है। अभिव्यक्ति के लिए मानव के माध्यम से उदय होने के कारण पौरुषेय होने पर भी वह तत्त्व की दृष्टि से अपौरुषेय है। बहुत-से महाकवियों की वाणी पौरुषेय की भाँति रहने पर भी परिणाम में अपौरुषेय ही होती है। अत: इस पौरुषेय शब्द निबन्धन को या शब्द-मूर्ति को जगत् को धारण करने वाले विष्णु का ही अंश माना जा सकता है **'शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा: महात्मन:'**। लेकिन शाक्त लोगों ने शब्द की उभयात्मिका शक्ति को पहचान कर भगवती को भी उभयात्मिका तो माना ही है। वह शब्दरूपा भी है और अर्थरूपा भी।

शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधान-
मुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्।। (*चण्डी सप्तशती*, ४-१०)

ललितासहस्रनाम में उसे भाषारूपा बृहत्सेना के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ कहा गया है। किन्तु १३३वें पद्य में तो वाक् के सभी रूपों के साथ भगवती का तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित किया गया है—

परा प्रत्यक्चितिरूपा पश्यन्ती परदेवता।
मध्यमा वैखरीरूपा भक्तमानसहंसिका।।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि भारतीय धारा ने आरम्भ से ही जीवन जगत् या सृष्टि की दिव्यता को स्वीकार किया है। तथा इन दो रूपों को मूलत: परस्पर विरोधी मानने की अपेक्षा एक-दूसरे की प्रतिकृतियाँ या समानान्तर गतियाँ माना है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति कवि है तो उसकी भीतरी धारा योगी की है। और यदि कोई योगी है तो निश्चय ही उसके भीतर कोई-न-कोई उदात्त काव्यानुभूति की धारा निगूढ़ रूप से नीचे रहती है। इसीलिए वैदिक ऋषि, पौराणिक व्यास, वेदान्ती शङ्कर एवं रामानुज आदि आचार्य-दार्शनिक एक साथ कवि और योगी, योगी और कविराज, वैद्य और वाचस्पति सब साथ रहे हैं। वस्तुत: इस कोण से ही जीवन के प्रत्यक्षीकरण का यह फल था कि लोग विषमता में समता और ऐक्य में भिन्नता को समन्वित करते रहे हैं। गङ्गा एक प्रयाग में बहती है, पर सिर्फ प्रयाग में ही नहीं बहती है, अन्यत्र भी उसका अस्तित्व है। इसी प्रकार प्रयाग भी यहाँ है, पर सिर्फ यहीं नहीं। उसकी धारा अन्यत्र भी है। शाक्तजन मानते हैं कि वस्तुओं या पदार्थों की सत्ता ऐहिक भी है और पारलौकिक भी है। दोनों को परस्पर विरुद्ध देखने वाले

जड़ हैं। दोनों के अस्तित्व को समानान्तर देखने वाला ही विज्ञ दार्शनिक है। उसी को **'संभूतिं च असंभूतिम्'** या **'विद्यां चाविद्यां यस्तद्वेदोभयं सह'** की बात समझ में आती है। अत: तत्त्व की विश्वोत्तीर्णता या विश्वमयता की बात को बहुत आश्चर्यकारी बवण्डर नहीं मानना चाहिए।

हमारे भाषादर्शन के मूल में भी इसी दृष्टि का प्रतिफलन हुआ। **'त्रिपादस्यामृतं दिवि'** अथवा **'पादोऽस्य विश्वाभूतानि'** वाली कथा भाषादर्शन के अध्ययन से स्पष्ट हो उठती है। लेकिन उस परम 'त्रिपाद् विभूति' का प्रतिफलन तब यहीं कहीं होता है जब ऋग्वेदीय पुरुष के समानान्तर अथर्ववेदीय श्रीसूक्त की स्थापना की जाती है।

तान्त्रिक वाङ्मय में वाक्-सम्बन्धी जो अवधारणा मिलती है उसका रहस्य इस बात में निहित है कि वाक्-तत्त्व की त्रिपथगा के तीन पथ बाहर की ओर स्थूल से सूक्ष्मतर होते हुए अपने-अपने स्तर पर क्रिया करते हुए परमशक्ति के चिदाकाश में मौन और समाहित हो जाते हैं। इस पराशक्ति में ही स्वाभाविकी ज्ञान और बलक्रिया की तैयारी या व्याकरणोन्मुखता ही स्फोट बन सकता है जिसके मर्म को लेकर कौलशाक्तों का कहना है कि प्रत्यवमर्श इसका आत्मा है तथा स्वरसता एवं स्वातन्त्र्य परा-वाक् की अमित अभिव्यक्ति। अत: पूर्यता या भरापन प्रस्फुटित या अङ्कुरित होने से पूर्व का वह क्षण है जब वाक् समस्त वाच्यवाचकात्मक विकास को अपने में ही देखती है। पश्यन्ती के रूप में शक्ति की व्याख्या *सौभाग्य-भास्कर* के इस उद्धरण से हो जाती है।

'पश्यति सर्वं स्वात्मनि करणानां सरणिमिव सा तेनेयं पश्यन्तीत्युत्तीर्योत्युदीर्यते माता।'

पश्यन्ती के इस द्रष्टाभाव को देखकर कुछ लोग कहते हैं कि शब्द इस भूमिका में आकृतिमान् या लिखित या चित्रित या प्रकट हो उठता है और रूपात्मक लिपि के उदय का प्रथम बीज यहीं है। यहाँ पर पदार्थों का प्रत्यक्ष इन्द्रियों की सहायता के बिना हो जाता है। किन्तु यहाँ पद-पदार्थ की स्थिति अर्धनारीश्वर की स्थिति है। एक ही चिह्न में द्वैत या द्वैधता का परस्पर में गहरा आश्लेष है। वहाँ क्षिप्तता का बहिर्मुख स्फुरण नहीं है। यह एक प्रकार से शैव के अन्त:स्पन्द की दशा है। इस दशा का उन्मीलन होता है अध्ययन के स्तर पर। क्योंकि अध्ययन न तो पश्यन्ती की तरह इन्द्रियातीतता के घेरे में है न वैखरी के समान पूर्णरूप से बहिर्भाव में प्रकट है अत: सौभाग्यभास्कर में कहा गया है—

'पश्यन्ती न केवलमतीन्द्रियं नापि वैखरीव बहि:स्फुटारनिखिलवावयवावाग्रूपता मध्यमा तयोरस्मात्।।'

सम्भवत: यहाँ वाक् स्पष्ट रूप से मानस या बौद्धिक प्रत्ययों और पदों को समानान्तर रूपों में विश्लिष्ट करके एक साथ उसका उनका प्रक्षेपण वैखरी के क्षेत्र में कर सकती है। महाभाष्यकार इस प्रक्षेपण का वर्णन इन शब्दों में करते हैं—

'सोऽयं वाक्समाम्नाय: वर्णसमाम्नाय: पुष्पित: फलितश्च तारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशि:।'

किन्तु यह वाक्साम्नाम् जिस रूप में मनुष्य की व्यवहार-चेतना में या सामान्य जीवन में प्रतिमण्डित हो रहा है ठीक इसी रूप में वह अपने सूक्ष्म रूप में आत्मा में पूर्व से ही विद्यमान होना चाहिए। इसी कारण से मन्त्राक्षरन्यास या अन्य विभिन्न प्रकार के अन्तर्मातृका या बहिर्मातृका आदि न्यासों में बाहर के चक्रों से लेकर भीतरी बिन्दु चक्र तक वर्णमाला के अक्षर या वर्णों की व्याप्ति अथवा उनका ध्यान करने का विधान इस बात का सङ्केत है कि शाक्तों के अनुसार एक ही वाक्-तत्त्व देहचक्र के बाहरी कोशों से लेकर भीतरी कोशों तक फैला हुआ है। भीतरी चक्रों में वह वाक् वर्णबीजरूपा होती है और बाहरी चक्रों में वह अन्वित होकर मन्त्र-वाक्यों में या सामान्य भाषा में परिचित हो जाती है। इसे शब्द का परिचित या विषयीरूप, जो भी कहें, भारतीय मानस ने बहुत पहले देख लिया था। अत: समस्त वेद, आगम और तन्त्र के रूप में निहित इस वाग्देवी की प्रतिष्ठा परब्रह्म के लगभग साथ ही है। उस सूक्ष्म रूप को नित्य कहा गया और वैखरी रूप को अनित्य व्यवहार से जुड़ा हुआ कहा है। नित्य रूप में वह वेद ब्रह्म है जिसके बारे में पुराकल्प में कहा गया—**'यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचं साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृश: पश्यन्ति तामसाक्षात्कृतधर्मेम्य: परेभ्य: प्रतिवेदयिष्यमाणा बिल्मं समामनन्ति। स्वप्नेवृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्ते।'**

तन्त्रशास्त्र में इस सूक्ष्म वाक् का सम्बन्ध परावाक् से है। शाक्तों में मूर्धन्य मनीषी गोपीनाथ कविराज परावाक् के सम्बन्ध में प्रचलित दो मतों का विश्लेषण तुलनात्मक दृष्टि से करते हैं—शब्द-ब्रह्मवादी के मत में सूक्ष्म-वाक् पुरुषसमवायिनी है एवं पुरुष की अमृताकला है। सिद्धान्तशैवमत में सूक्ष्म-वाक् के बिन्दु को कार्यरूप एवं शब्दवृत्ति कहते हैं। शैव दृष्टि में सूक्ष्म-वाक् पुरुषसमवेता शक्ति नहीं है। वह आत्मा के साथ अविभक्त रूप में रहने वाली है। परावाक् कारण और नित्य भी नहीं, अपितु कार्य और अनित्य है। यह शब्द-ब्रह्मस्थ रवि है जिसका भेदन विवेकज्ञान से है, जिससे मुक्ति का उदय होता है। शब्दब्रह्मवाद के अनुसार सूक्ष्म-वाक् पश्यन्ती से अभिन्न है, किन्तु शाक्तमत में यह आत्मा या परमशिव की पराशक्ति है। जब आत्मा में निजस्फुरण देखने की इच्छा उदित होती है तब विमर्शांश शान्ता का प्रकाशांश अम्बिका से सामरस्य होता है। यह परावाक् है या परामातृका, जिसमें षट्त्रिंशशत्तत्त्वमय विश्व बीजस्थित वृक्षसदृश अव्यक्तरूपेण विद्यमान रहता है। सृष्टिकाल में अभिव्यक्त होता है। (*तान्त्रिकवाङ्मय में शाक्त दृष्टि*, पृ. ४३)

वस्तुत: वैदिककाल से ही ऋषियों के सम्मुख जब जीवन की चुनौतियाँ आईं तो उन्हें तत्त्व-ज्ञान में ही उन चुनौतियों का समाधान मिला। यह तत्त्वज्ञान ही वेदरूप में उनके आगे आविर्भूत हुआ यह तत्त्वज्ञान उन्हें बाह्य की प्रकृति में भी सूझने लगा तथा अपनी अन्तरात्मा में भी। लेकिन इस तत्त्वज्ञान के केन्द्र की खोज करने पर वह आत्म-तत्त्व में मिला। अत: शक्ति-उपासना के कर्मकाण्ड में सर्वप्रथम **(आत्मतत्त्वं शोधयामि)** की बात हो चली। दूसरे तत्त्व के रूप में उन्हें विद्यातत्त्व मिला और तीसरे व्यापक तत्त्व के रूप में उसे शिवतत्त्व मिला। शेष सभी तत्त्व उन्हें इनहीं तीन की समञ्जसता में उपलब्ध हो गए।

वस्तुत: श्रुति में जब यह सङ्कल्पना प्रकट हो गई कि यह जो इदन्ता से बोधित आत्मा है इसका स्वरूप इस क्रम से है **'स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्'** (वृ.उ. १-३-१२) इस क्रम में आत्मा का स्वरूप पहले वाङ्मय हुआ जिसका अर्थ यह हुआ कि पहले प्रवृत्तिरूपा वाक् का उदय हुआ जो शब्द अर्थ और ज्ञान के विकल्पों के इतरेतराध्यास से मुक्त केवल प्रारम्भ था। आत्मा की यह वाङ्मयता मनोमयता में परिणत हुई जहाँ आन्तर अर्थ का स्वरूप उपस्थित हुआ। फिर प्राणमय स्वरूप का उदय हुआ जो रचनाक्रम में स्थूल व्यवहार का हेतु बना। तन्त्र आगम ने इन तीनों रूपों को मन्त्र, देवता और मन्त्रार्थ के रूप में विकसित कर सम्पूर्ण सृष्टि में रचनात्मकता की प्रक्रिया का यथोचित विवरण कर दिया है। पौराणिकों ने तो आत्मा के प्रथम वाङ्मय रूप को ही शब्द-ब्रह्म के रूप में लेकर उसके तीन रूपों को स्वीकार कर उपयोगी वाक् की व्याख्या कर दी। श्रीकृष्ण ने उद्धव को सब साधन-पद्धति को समझाते हुए स्पष्ट कहा—

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्।।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते।। — *श्रीमद्भागवत पुराण. ११, २१, ३६-३७*

प्रकारान्तर से वहीं पर वाक् के आध्यात्मिक और आधिभौतिक स्तरों के बीच के सूत्रों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यह जीवात्मा जो शुद्ध आकाश की तरह विवर-प्रसूति है उसमें प्राणवायुकृत घोष के साथ जीव गुहा में चला जाता है। फिर मनोमय सूक्ष्म रूप को प्राप्त कर मात्रा स्वर एवं वर्ण के रूप में स्थापित होकर प्रकट होता है—

स एष जीवो विवरप्रसूति: प्राणेण घोषेण गुहां प्रविष्ट:।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठ:।। — *तदेव ११-१२-१७*

किन्तु आत्मा को सर्वप्रथम वाङ्मय कहने के पीछे या वाक् को ही आद्या कहने के पीछे अथवा शब्दों के मन्त्रक्रम में से 'ऐं' बीज को आदि में रखने या पञ्चदशी मन्त्र के आदि में वाग्भवकूट को रखने के पीछे वैदिकों और शाक्तों का लक्ष्य क्या है? मुझे ऐसा लगता है कि वह आत्म-चैतन्य में उदय होने वाला प्रथम स्पन्द है अथवा क्रिश-शक्ति है वही आदि नाद के रूप में प्रथम स्फुरण है। यद्यपि सामान्यत: हम शैवशाक्तक्रम में इच्छा ज्ञान क्रिया में क्रिया को क्रम में सबके बाद में रखते हैं। उस पर चिन्तन की दृष्टि से यह बात प्रमाणरूप हो सकती है। परन्तु मीमांसकों का क्रिया को प्राधान्य देना क्रिया के ऐसे आदिरूप की ओर सङ्केत है कि वह क्रिया प्रथम स्पन्दरूपा है जिसने निष्क्रियता या निस्पन्दता का पहली बार भञ्जन किया है जिसने अनादि मौन को प्रथम बार मुखर किया है। यह क्रिया प्रथम स्पन्द के रूप में जैसे सृष्टि के आदि मूल में सक्रिय है वैसे ही यह शिशु के जन्म में प्रथमोदय के साथ ही सक्रिय है। इच्छा और ज्ञान उसकी पुच्छभूता शक्तियाँ हैं जो सक्रिय काली के नृत्य में सङ्कल्प और योजना का निर्माण करती चलती हैं। **'दधामि ते द्युमतीं**

वाचमासन्', 'यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि', 'धीरा मनसा वाचमक्रत' तथा '**चत्वारि वाक् परिमिता पदानि**' आदि मन्त्र वाक् शब्द का प्रयोग मानवीय भाषा और बोली के लिए अथवा केवल वैदिक भाषा के लिए करते हैं। मुझे लगता है कि वेद में वाक् शब्द का प्रयोग सर्वत्र किसी विशेष अनुभूति वाले पक्ष को लेकर हुआ है। सन्दर्भ है यज्ञ का, जिसके चारों ओर वाक् घूमती है। परिणामत: सोम की प्राप्ति लक्ष्य है। वाक् के द्वारा सोम का चूना एक अतिविशिष्ट कर्म है जिसे तान्त्रिकों ने देह के भीतर ही अनुभव करके फिर उसे वाक्-कुण्डलिनी के द्वारा सहस्रार में जाकर अपने देश से सोम को ही मुक्त कराना है। क्योंकि सोम ही आनन्द, वीर्य, बल और सुन्दरता का प्रदाता है। अत: शाक्त भावना के अनुसार इस प्रक्रिया को इस प्रकार कहा गया—

ब्रह्मरन्ध्रगते चन्द्रमण्डलेऽमृतवर्षिणीम्,
भवानीं भूमिशुद्ध्यर्थं भावयेदमृतेश्वरीम्।।
ततस्तन्मौलिनिष्यन्दसुधाकल्लोलवृष्टिभि:,
चिन्तयेन्मनसात्मानं भूमिशुद्धिरियं भवेत्।। — *दुर्गासप्तशती, निर्णयसागर संस्करण, पृ. १४*

प्राय: ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में भी वाक् शब्द ही सर्वत्र महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों में प्रयुक्त होता है। '**यद् वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मोनाधर्मो**' (*छान्दोग्य उपनिषद्* ७-२-१) जैसे वाक्यों से लगता है कि उपनिषदों में वाक् को ही विश्व को एकसूत्र या तांत में बांधने वाली मानकर एक ओर वाग्दर्शन खड़ा किया जा रहा था जिसमें विश्व के एकनीड होने की बात कही जा रही थी और राष्ट्रों के रूप में भी उसका स्मरण हो रहा था। एक ओर वह देवलोक से जुड़ी थी तो दूसरी ओर उसका प्रयोग भूलोक के जीवों में भी हो रहा था। ऋषि उसका स्तवन इस रूप में कर रहे थे—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु।। — *(ऋग्वेद ८-१००-११)*

उपर्युक्त इन दो सङ्केतों से पता चल जाता है कि आर्ष प्रतिभा ने वाक् की विश्वरूपता और कुलरूपता की बात को स्वीकार कर लिया था और उसको एक ऐसे सन्दर्भ में जा खड़ा किया था कि जिस में वह जनयित्री, राष्ट्री, वसूनां सङ्गमनी, ही नहीं थी बल्कि और भी बहुत कुछ थी। इसी कारण आगे चल कर तन्त्र में उसकी 'कुलकामधेनु' के रूप में प्रतिष्ठा हुई। आर्ष प्रतिभा के तत्त्वान्वेषी मीमांसकों ने वाक्यरूपा वाक् के ही लौकिक अलौकिक पक्षों की गवेषणा करके उसी अपौरुषेयता में प्रतिष्ठा की। और वाक् सम्बन्धी अध्ययन को वाक् विद्या के रूप में पल्लवित किया। किन्तु इसी बीच षडङ्ग वेद के विकास में लगे हुए लोगों में शिक्षा अथवा शीक्षा तथा व्याकरण रूप वेदाङ्गों के अध्ययन में लगे लोगों ने वद-विज्ञान को इतना अग्रसर किया कि वाक् के प्रतिनिधि के रूप में पद या शब्द की ही प्रधान पद पर प्रतिष्ठा होने लगी। वैदिक मन, जो वाक् की एक समूची सामाजिकता को यज्ञ के सन्दर्भ में समझ रहा था वह अध्ययन योग के आलोक में शब्द-विज्ञान की ओर आ रहा था और बात वैय्याकरणों में बड़ी सुरुचि से देखी जा रही थी कि एक शब्द यदि स्वर

या वर्ण की दृष्टि से ठीक नहीं हुआ तो वह शब्द वाग्वज्र बन जाता है। अत: उस शब्द की व्याकरण में खूब मीमांसा हुई। किन्तु वह शब्द अब लौकिक स्तर पर पूरी तरह उतर आया था। पाणिनि आदि महान् आचार्यों ने वैदिकी वाक् की स्वच्छन्दता को नियमित करने के चक्कर में कतरब्यौंत शुरू की तो फलत: वाक् का स्वत:स्फूर्त होने वाला प्रवाह रुका। वैदिक छन्द पर भी इसका प्रभाव पड़ा और एक अखण्ड पदस्फोट या वाक्यस्फोटों की कल्पना समकालीन अन्य योग, न्याय, बौद्ध आदि दर्शनों की मिली-जुली चिन्तनगत सूक्ष्मता के आधार पर होने लगी। महाभारत के अनुशासन पर्व में आये—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:।।

इस में प्रक्रिया पूर्ण हो गई। निश्चय ही अब शब्द का अध्ययन वैयाकरणों के पद प्रयोगों और रूप सिद्धियों से उठकर सूक्ष्म योग की कुछ बौद्धिक कुछ अतिबौद्धिक शून्यवादी एवं क्षणिक-विज्ञानवादी दृष्टियों के बीच पलने लगा था। शब्द की नित्यता अनित्यता को लेकर चले हुए विवाद और गहरे हो रहे थे। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की स्थापना पर बहस नैय्यायिकों-वैयाकरणों के बीच चलती रही। पर शब्द या पद को भाषा की अस्मिता का मूल आधार मान कर यह बात भी तय कर दी गई कि पद ही अन्तिम भाषाई इकाई है। वर्णों के संयोग-वियोग वाली वृत्ति से अछूता वह शब्द या पदतत्त्व एक है अखण्ड है—

पदे वर्णा न भिद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च। – *वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड, ७३*

तन्त्र ने इस बात को गम्भीरता से लिया और मीमांसकों, वैय्याकरणों एवं नैय्यायिकों की वाक् सम्बन्धी अवधारणाओं को शक्ति विज्ञान एवं मन्त्र विज्ञान के बल पर मथकर वाक् सम्बन्धी अपना दर्शन दिया। शक्ति के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि शक्ति ही मूल है और उसके मूल पक्ष दो हैं—

सगुणा निर्गुणा चेति द्विविधेत्याहुर्मनीषिण:।
सगुणा रागिभि: सेव्या निर्गुणा तु विरागिभि:।।

किन्तु श्री लक्ष्मण देशिकेन्द्र कहते हैं कि शिव का ही निर्गुण और सगुण रूप लेना चाहिए। प्रकृति के बिना रहने वाला निर्गुण या शिव है जिसमें सृष्टि की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। प्रकृति को साथ लेने वाला सगुण शिव ही सकल शिव है। यह सकल शिव ही सत् चित् और आनन्दस्वरूप है। वही चित्-धर्मी है और अचित्-धर्मी भी है। अचित्-धर्म को सुनकर हड़बड़ाना नहीं चाहिए। क्योंकि अचित् या जड़ वस्तुत्वात् कोई नितान्त पृथक् सत्ता नहीं। हमारे चिन्तन में जड़ को 'दृश्यत्वात् जडत्वम्' कह कर स्वीकारा गया है। क्योंकि जब भी कोई वस्तु सत्ता या तथ्य द्रष्टा के दृष्टिकर्मता को प्राप्त करेगा या द्रष्टा के लिए दृश्य होगा तभी केवल उस भोग काल में उसकी अचित्-धर्मिता है अन्यथा वह चिद्रूप ही है।

यही कारण है कि शाक्तों के शिव या शैवों की शक्ति, सांख्यों के पुरुष और प्रकृति, योग के पुरुष-विशेष ईश्वर एवं वेदान्तियों के मायोपाधिविशिष्ट पर तुरीय दशा में ग्रस्त होने वाले ईश्वर से नितरां भिन्न हैं। वह स्वयं ही महाकर्तृत्त्व धर्मों से जुड़ कर विश्ववित्, विश्वकृत् आत्मयोनि, ज्ञ, काल का भी काल, गुणी और सर्वविदित है (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६-१६)। वह सगुणात्मकता में स्वयं ही रचनाधर्मी है तथा निर्गुण्ता में मोक्षप्रद मौनी। लेकिन शिव-शक्ति के सम्बन्ध को पहचानने वाला शिव की सम्मुखरूपता में उसे शक्ति-प्रभावित या ऊर्जा-मुख शिव कहेगा तथा शक्ति को चैतन्यमुखी ऊर्जा। जब शक्ति अपनी चित् ऊष्मा से द्रवित होकर मूलरूप से अविभागापन्न होकर वैशिषिक के निष्प्रकारक स्पन्द के रूप में आविर्भूत होती है तो पर-नाद की स्थिति बनी है। यह पर-नाद ही सृष्ट्युन्मुखता या प्रथम क्षण है जिसमें हंसरूप शिव की ब्रह्मगर्भिणी हंसी औत्सुक्य के कण-नाद करती है। यह बहुत ही सूक्ष्म लम्बाकृति नाद ही प्रवहमानता के साथ घनीभूत होकर बिन्दु रूप बनता है। गतिशील नादतत्त्व या नाथतत्त्व की अप्रतिहत अनन्त एक नाद वाणी रूप तड़ाग या नाद का महासर या महाबिन्दु बनकर एक महामहिम बिन्दु बन जाता है। उसी को शाक्त लोग परबिन्दु ही नहीं शब्दब्रह्म कहते हैं। यह शब्द शक्ति-चैतन्य-धारा का वह सञ्चय-सर है जहाँ से सुनियत ढङ्ग से अपर बिन्दु, अपर बीज और अपर नाद की त्रिवेणी बह निकलती है। इस त्रिवेणी में बिन्दु समस्त प्राणियों में इच्छा शक्ति के रूप में, बीज ज्ञान-शक्ति के रूप में तथा नाद क्रिया-शक्ति के रूप में विकसित हो जाता है। मानव-देह में इन तीनों तत्त्वों की समन्विति को ही हमारी सृष्टि का सार मानना चाहिए। *पाणिनि शिक्षा* में ही कहा गया है कि बिन्दुरूप आत्मा ही जब इच्छा या विवक्षा के कारण हमारी ज्ञानशक्ति में स्थित अर्थों में या प्रत्य को समेट कर कायाग्नि का आहनन करता है तो वह ज्ञान मारुत या प्राण की प्रेरणा या क्रिया से **'ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्'** के रूप में कुछ विशिष्ट स्थानों या प्रयत्नों से नियन्त्रित होकर वाक्तत्त्व बन जाता है। यह वाक् उस नाद की ही बिन्दु और बीज से नियन्त्रित होकर उदय हो रही दशाएँ हैं। देखा जाए तो मूलतः निर्मल शुद्ध बिन्दु ही प्रजनन या 'प्रोडक्टिविटी' के कारणभूत माया-बीज से गर्भित होकर, क्रियात्मक होकर कर्मेन्द्रिय वाक् के माध्यम से प्रकट हो जाता है। यह व्यवहार-जगत् का सारा शब्द या आहत नाद का हमारा व्यवहार अपर-शब्दमूलक है जिसकी पृष्ठभूमि में शब्दब्रह्म का सागर है। पर शब्दब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टि के मूलाधार में स्थित महाकुण्डलिनी है और उसके ऊपर का शब्द जीव-कुण्डलिनी है। यह कुण्डलिनी प्रत्येक जीव की क्रियाशक्ति का मूल स्रोत है जो जीवन की ओजस्विता और व्यक्तित्व-सङ्घटन को प्रदर्शित करता है। सामान्यतः हमारी चेतना या मानसिकता के छोटे-से आकाश में हमारी क्रिया-वाक् के छोटे-छोटे अंश ही वर्ण, पद या मन्त्र बन कर आगे-पीछे मण्डराते रहते हैं। अतः प्रत्येक वर्ण या पद अथवा वाक्य हमारी मानसिक या वाचिक क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारा चित्तजगत् विषय-जगत् के साथ सन्निकर्ष से भी सक्रिय हो उठता है। किन्तु वह सक्रियता निर्विचार होगी। चित्त का सक्रिय होकर विचार में जाने का मार्ग केवल शब्द है। भावावेगों या भावना आदि का किन्हीं और तरीकों से भी सम्प्रेषित किया जा सकता है। किन्तु विचार तो मात्र भाषा या शब्द व्यवहार के ही अधीन है। **'कं ब्रह्म'** इस श्रुति रूप का विचार करने में विचार-

जगत् का व्यवहार करने की क्षमता भी केवल वाक् के ही अधीन है। अत: ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में शाक्त लोग भी सर्वप्रथम स्थान वाक् को ही देते हैं। क्योंकि वाक् आत्मा के उन तीनों रूपों में ही प्रथमा है जिन्हें आत्मा के वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय तन्तु कहा गया है। क्योंकि शब्द से ही मन की बात उभर कर साफ होगी तथा प्राणमय के रूप में सक्रियता के आधार पर ही यास्क यदि **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** कह कर क्रिया को ही समस्त विश्व के वाग्व्यवहार का हेतु माने तो चौंकना न चाहिए।

शाक्त आचार्य शब्द-ब्रह्म की चर्चा करते हुए वाक्-तत्त्व का विश्लेषण अपने ढङ्ग से करते हैं। उनके मत में सृष्ट्युन्मुख परमशिव का प्रथम, अखण्ड, अव्यक्त, नाद-बिन्दुमय उल्लास ही अपने व्यापक रूप में शब्दब्रह्म है। कुछ आचार्य शब्दार्थमय आन्तर स्फोट को ही शब्दब्रह्म कहते हैं **'निरंश एवाभिन्नो बोधस्वभाव: शब्दार्थमय आन्तर: स्फोट:'**। दूसरे आचार्य पूर्व पूर्व वर्णों के उच्चारण से अभिव्यक्त तथा स्मृति वा संस्कार में स्थित पदों की सहायता से अन्तिम वर्ण के उच्चरित होते ही जागृत हो जाने वाले वाक्य स्फोट रूप तथा अखण्ड एकार्थ के प्रकाशक शब्द को शब्दब्रह्म कहते हैं—**'एक एव नित्यो वाक्याभिव्यङ्ग्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो वा बहीरूप:।'** इन दोनों वैय्याकरणों के मतों को दूषित ठहराते हुए शाक्त और शैव आचार्य कहते हैं कि उन मतों में शब्द मात्र मानव का मनोदैहिक व्यापार मात्र होने से जड़ है। उसे ब्रह्म कैसे कहा जा सकता है। ब्रह्म तो सच्चिदानन्द रूप है। (दे. *शारदातिलकम्* के प्रथम पटल में पद्य सं. १२, १३ पर राघव भट्ट की टीका)।

यह शब्दब्रह्म ही सब की योनि के आधार-कुण्ड में तीन शक्तियों के सूक्ष्म 'स्पायरल' या शङ्ख-आवर्त प्रकार के तीन वलयों की प्रकाश-रेखाओं से इन्द्रधनुषी बना रहता है। आधारवलय उसकी अग्रसरता या क्रियोन्मुखता को सुबुद्धि-दशा में भी बोधित करने के लिए है। वह क्रियोन्मुखी अध्युष्टवलया या सार्धत्रिवलया कुण्डलिनी की अवधारणा मुझे इस बात की द्योतक लगती है कि पूर्णता का कभी गति से या सम्भावनाओं से विच्छेद नहीं होता। शक्ति-तत्त्व की पूर्णता का परिचय जड़ हो जाने के लिए नहीं है। उसमें संलग्न जो अर्धमात्रा है वह इसका प्रमाण है कि भगवती चिति-शक्ति तीन खण्डों में 'उक्त' होकर भी अर्धमात्रा की दृष्टि से 'अनुच्चार्या विशेषत:' है। वाक् के उस अनुच्चार्य पक्ष को जो परा के रूप में जानते हैं, वे ही पण्डित हैं। क्योंकि 'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जन:'। वस्तुत: कुण्डलिनी वाग्ब्रह्म का वह रूप है जो जीव के जन्म के साथ ही जीवन यात्रा की ऊर्जा का पाथेय है।लेकिन वह हमारे संस्काराशय के भीतर कहीं बहुत गहरे में एकाक्षरी मन्त्र की ध्वनि की तरह सुप्त है। प्रकृति की ओर से गुप्त रूप में निहित वह अक्षरब्रह्म यदि आवाज देने लगे या उस कुण्ड में पौधे की तरह उगने लगे तो एक नई जीव की अपनी भाषा का जन्म हो सकता है जो परम्परा प्राप्त भाषा को 'जीव को मिली सामाजिक देन' की रट लगाने वाले भाषा विज्ञानी के लिए चैलेंज बन सकता है। इसी कुण्डलिनी या शब्दब्रह्म शक्ति के विषय में आगम कहता है—

शङ्खावर्तक्रमादेवी सर्वमावृत्य तिष्ठति।
कुण्डलीभूतसर्पाणामङ्गश्रियमुपेयुषी।।
त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी।
द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मा पञ्चाशद्वर्णरूपिणी।।
गुणिता सर्वगात्रेषु कुण्डली परदेवता।
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयं जगत्।। — *शारदातिलकम्, १, ५४-५७*

यह ठीक है कि शैवों और शाक्तों ने अपने वास्तव सिद्धान्तों के अध्ययन और विश्लेषण में वाक्-तत्त्व को लेकर मीमांसा करने वाले शास्त्रों और विद्याओं की मान्यताओं को उचित महत्त्व दिया है। उनका उपयोग भी किया है। किन्तु उन वर्ण, पद, वाक्य की मीमांसा करने वाले शास्त्रों के अव्याख्यात प्रश्नों का समाधान भी किया है और अग्रसर भी किया है। वैयाकरण कह तो देते हैं कि **'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति'** किन्तु ऐसा कैसे होता है, वाली बात गुमसुम रह जाती है। शब्दार्थ के सम्बन्ध की नित्यता को लेकर ऐसे कई प्रश्न पीछे कर दिये जाते हैं। शाक्तगण वाक् की प्रक्रिया को चैतन्योन्मुखी मान कर भाषा के प्रत्येक वर्ण को तत्त्वरूप और उन तत्त्वों के जोड़-तोड़ से अर्थ-जगत् में पैदा की जा सकने वाली हलचलों की व्याख्या देकर कहते हैं कि एक ही चित्-शक्ति उस सिक्के की भाँति है जिसके एक ओर वर्ण पद मन्त्र का वाङ्मय जगत् है दूसरी ओर तत्त्व, कला और भुवन का अर्थ-जगत् है। कुछ अन्तर के साथ दोनों चिद्रूप हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं हो सकती। अतः यह जगत् नित्य रूप से शब्दार्थमय जगत् है। अतः हम आज के दिन वाग्ब्रह्म की चर्चा के इस सत्र में शब्द के प्रति पुष्पाञ्जलि के रूप में, शुद्ध शब्द की ही अर्चना के रूप में प्रस्तुत प्राचीन कवि के एक श्लोक को अर्पित कर सकते हैं—

शब्दार्थमात्रमपि ये न विदन्ति तेऽपि,
यां मूर्च्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः।
संरुद्धसर्वकरणप्रसराः भवन्ति,
चित्रस्थिता इव कवीन्द्रगिरं नुमस्तान्।। — *जगद्धर*

पूर्व-कालिदास प्रोफेसर (संस्कृत)
पञ्जाब विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ
आवास- १६०५ सेक्टर ४४ बी,
चण्डीगढ-१६००४७

वामकेश्वर तन्त्र एवं त्रैपुर-सिद्धान्त

प्रो. शीतला प्रसाद उपाध्याय

उपासना भेद एवं दार्शनिक दृष्टि से सम्पूर्ण आगमिक वाङ्मय तीन भागों में विभक्त है—भेद-प्रधान, भेदाभेद-प्रधान और अद्वैत-प्रधान। भेद-प्रधान शिवागम कामिकादि भेदों से दस प्रकार के होते हैं। सुप्रभेदादि भेदों से अष्टादश प्रकार के भेदाभेद प्रधान आगमों को रुद्रागम तथा चौंसठ भेदों वाले अभेद-प्रधान आगमों को भैरवागम कहा जाता है। ये आगम क्रमशः द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत उपासना प्रधान होते हैं। उपासना भेद से इन आगमों का यद्यपि अनेकत्व सिद्ध होता है तथापि भेद होते हुए भी इन आगमों में बहुत अधिक अंशों में साम्य है। सभी प्रकार के शैव और शाक्त-दर्शन एवं उनकी प्रक्रियाएँ आगमों पर ही आधारित हैं।

काश्मीर शैव-दर्शन के प्रधान स्रोत अभेद आगम हैं। चौंसठ अभेद-प्रधान आगमों में सौर, भर्गशिखा प्रभृति छः प्रकार के आगमों का विशिष्ट स्थान है। उनमें भी पूर्व और उत्तर भेद से दो वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में तीन-तीन प्रकार के आगमों का समावेश है। उत्तर वर्ग के अन्तर्गत परिगणित तीन आगम काश्मीर शैव-दर्शन के मुख्य आधार-स्तम्भ हैं। वे हैं—सिद्धा, वामक और मालिनी। इनकी अपर संज्ञा 'त्रिकागम' अथवा 'षडर्धशास्त्र' भी हैं। इन त्रिकागमों में परिगणित 'वामक' तन्त्र के सिद्धान्त वामकेश्वर शास्त्र में प्रतिपादित हैं। यद्यपि जयरथकृत *तन्त्रालोक-विवेक* के देवनागरी संस्करण में यह आगम 'नामक' नाम से उपलब्ध होता है, तथापि शारदालिपि में 'न' और 'व' अक्षरों में बहुत अधिक साम्य होने के कारण 'नामक' के स्थान पर 'वामक' पाठ ही अधिक उपयुक्त और मान्य है। इस सन्दर्भ में प्रो. ब्रजवल्लभ द्विवेदी एवं पं. बलजिन्नाथ पण्डित आदि विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है।

नित्याषोडशिकार्णव वामकेश्वर तन्त्र के अन्तर्गत आता है। इसे 'चतुश्शती' शास्त्र भी कहा जाता है। इस तन्त्र ग्रन्थ की उपलब्ध व्याख्याओं में सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या जयरथकृत '*वामकेश्वरीमतविवरणम्*' है। इस ग्रन्थ की आलोडना से यह निष्कर्ष निकलता है कि त्रिपुरा सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक चर्यानन्दनाथ है जो उड्डीयान पीठ से सम्बद्ध थे। विद्वानों ने उड्डीयान पीठ की स्थिति उत्तर दिशा में कश्मीर में ही मानी है। कालान्तर में इस सम्प्रदाय के प्रवर्तकों में आचार्य ईश्वरशिव, कल्याण वर्मा एवं विश्वावर्त का भी नाम जुड़ गया। यद्यपि जयरथ ने अपनी *वामकेश्वरीमतविवरण* व्याख्या में अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों में दीपिकाचार्य अथवा दीपकनाथ, नरवाहन दत्त, शङ्कराशि, अल्लट, ईश्वरशिव, कल्याण वर्मा, विश्वावर्त, बुप्पा राहुल, अनन्त विजय आदि अनेक आचार्यों का स्मरण किया है, तथापि उनके द्वारा ईश्वरशिव को विशेष आदर और सम्मान दिया गया है। ईश्वर शिव *रसमहोदधि* के रचयिता रहे हैं जो वामकेश्वरी मत का श्लोकबद्ध

वार्तिक है। ये शूरमठ के अधिपति थे जिसकी स्थापना नवम शताब्दि में राजा अवन्ति वर्मा के मन्त्री 'शूर' ने की थी। रसमहोदधि के अतिरिक्त जयरथ ने अपनी व्याख्या में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की जिन व्याख्याओं का उल्लेख किया है, उनमें शङ्कराशि कृत वामकेश्वरी मत की व्याख्या, आचार्य अल्लट कृत व्याख्या, कल्याण वर्मा कृत व्याख्या, दीपकनाथ कृत वृत्ति, बुप्पा राहुल कृत मन्त्रसङ्केत एवं नरवाहन कृत सूत्रग्रन्थ प्रमुख हैं। ये सभी की सभी कृतियाँ आज लुप्त हो गई हैं।

जयरथ कृत वामकेश्वरीमतविवतरण में मूल विद्या के रूप में कादि विद्या का उद्धार किया गया है। विवरणकार ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा स्थापित मतों की समालोचना करते हुए *ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, तन्त्रालोक* आदि ग्रन्थों के प्रमाण से अपने विवरण की श्रेष्ठता स्थापित की है। इस ग्रन्थ के एक स्थल पर उल्लिखित वचन 'तैरस्मद्गुरूपज्ञतद्विवेकावगन्तव्यम्' (पृ. ७६-७७) से यह सङ्केत मिलता है कि यह सम्भवत: जयरथ की कृति न होकर उनके किसी शिष्य की कृति हो सकती है किन्तु इतना तो स्पष्ट ही होता है कि कश्मीर में त्रिपुरोपासना का प्रचलन पूर्व से ही था।

नित्याषोडशिकार्णव की उपलब्ध दूसरी प्राचीन टीका का नाम *ऋजुविमर्शिनी* है। महार्थमञ्जरीकार महेश्वरानन्द के परमगुरु आचार्य शिवानन्द इसके रचयिता हैं। इनके भी मन्तव्य के अनुसार कश्मीर में ही त्रिपुरा सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ है। ऋजुविमर्शिनी टीका में प्रत्यभिज्ञा-दर्शनानुसारिणी व्याख्या प्रस्तुत की गई है और विशेषकर क्षेमराज के वचनों को प्रमाण-रूप में उद्धृत किया गया है। इसमें मूलविद्या के उद्धार में हादि विद्या प्रतिपादित है। इस ग्रन्थ में कौलिकी-पद्धति की प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पद्धति से आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। साथ ही प्रपञ्चकार एवं त्रिपुरासमुच्चय आदि ग्रन्थों को भी प्रमाण माना गया है।

नित्याषोडशिकार्णव की तीसरी उपलब्ध टीका विद्यानन्दनाथ कृत *अर्थरत्नावली* है। यह टीका प्रधानतया कौल और क्रममत के अनुसार ग्रन्थ का व्याख्यान उपस्थापित करती है। इसमें उत्तरषट्क, सिद्धनाथ पाद, सङ्केतपद्धति, मतशास्त्र एवं मतोत्तर आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है। ऋजुविमर्शिनी की भाँति यह टीका भी मूलविद्या के उद्धार क्रम में हादिविद्या का प्रतिपादन करती है, तथापि यत्र-तत्र स्थलों पर कादिविद्यापरक व्याख्या भी प्रस्तुत करती है।

नित्याषोडशिकार्णव की चौथी उपलब्ध टीका *सेतुबन्ध* नाम से आचार्यश्री भास्कर राय के द्वारा लिखी गई मिलती है। इसमें नित्याषोडशिकार्णव को आठ पटलों में पूर्ण माना गया है जबकि पूर्व के आचार्यों की टीका प्रथम से पाँच पटलों की ही उपलब्ध होती है। श्री भास्कर राय के पूर्व एक महनीय आचार्य ने *योगिनीहृदय* को भिन्न ग्रन्थ मानकर उस पर 'दीपिका' नामक टीका लिखी थी जिनका नाम अमृतानन्द था, किन्तु सेतुबन्धकार ने इसे नित्याषोडशिकार्णव का ही अभिन्न अङ्ग मानकर ग्रन्थ के षष्ठ, सप्तम एवं अष्टम पटल के रूप में अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है। इसी टीका में मूलविद्या के उद्धार में कादिविद्या प्रतिपादित है तथा पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों की समालोचना की गई है। श्री भास्कर राय ने आचार्य भगवत्पाद द्वारा प्रवर्तित मिश्र मार्ग के अन्तर्गत स्वयं को स्थिर करके तथा चतुर्दश विद्याओं में परिगणित धर्मशास्त्र में तन्त्रशास्त्र का अन्तर्भाव स्थापित करते हुए अपनी व्याख्याओं को पूरा किया है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि वामेश्वर शास्त्र से त्रिपुरा सम्प्रदाय का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वामेकश्वरतन्त्र वामकेश्वरीमत, चतु:शती आदि नामों से भी जाना जाता है। वर्तमान में इसके अन्तर्गत नित्याषोडशिकार्णव ही उपलब्ध होता है जिसमें षोडश नित्याओं की चर्चा मिलती है। वामकेश्वर शास्त्र का सम्पूर्ण कलेवर आज उपलब्ध नहीं है। आधुनिक युग में इस शास्त्र के ठीक-ठीक निर्धारित करने की सामग्री का अभाव है। अर्थरत्नावलीकार विद्यानन्द नित्याषोडशिकार्णव को बहुरूपाष्टक शास्त्र का सङ्क्षेप मानते हैं। शिवानन्द ने बहुरूपाष्टक पद से आठ शक्ति तन्त्रों को ग्रहण किया है। सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर और गौरीकान्त ब्राह्मी आदि सप्तमातृकाओं और शिवदूती के प्रतिपादक आठ तन्त्रों को इसके अन्तर्गत परिगणित करते हैं। *श्रीकण्ठीसंहिता* में अन्धक, रुरुभेद, अज, मूल, वर्णभण्ट, विडङ्ग, ज्वालिन् और मातृरोदन—ये नाम बहुरूपाष्टक को दिये गये हैं। *तन्त्रराज तन्त्र* के टीकाकार सुभगानन्द नाथ नौ नित्यातन्त्रों में एक तन्त्र के रूप में नित्याषोडशिकार्णव का उल्लेख करते हैं।

तन्त्रागमों में पञ्चस्रोतस् भेद से देवता और उनकी उपासना विधियों का निर्देश है। यहाँ उपासकों के रुचि वैचित्र्य तथा अधिकारी भेद से उनके लिए उचित विधियों एवं मन्त्रों की उपयोगिता बतलायी गयी है। इनका सम्पूर्ण वाङ्मय शिव, रुद्र और भैरव भेद से त्रिविध भागों में विभक्त है। द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत-प्रधान इनकी तीन प्रक्रियाएँ हैं। दक्षिण, वाम, सिद्धान्त और कुल-संज्ञक चार प्रकार की इनकी विधियाँ हैं। इन चारों विधियों में भैरवकुल श्रेष्ठ है। कालीकुल भैरवकुल के समकक्ष है। त्रिकशास्त्र का भी भैरवकुल और कालीकुल की भाँति समान भूमिका है। भैरवकुल में प्रधानत: आनन्दभैरव-आनन्दभैरवी, अमृतेश्वर-अमृतेश्वरी और स्वछन्दभैरव-अघोरेश्वरी संज्ञक देवताओं की उपासना है। भैरवागमों में पञ्चस्रोतस् भेद से उनकी व्याप्ति सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। महार्थक्रम कालीकुल की सारभूत उपासना का पर्याय है। कालीकुल में महार्थप्रक्रिया बतलायी गयी है। पञ्चवाह आदि क्रम एवं सृष्ट्यादि से भासान्त तक का क्रम अङ्गत्वेन उसमें विहित होते हैं। '*महार्थमञ्जरी*' तन्त्रग्रन्थ इसका उदाहरण है। इसी सरणि के अनुसरण में त्रिकशास्त्र में भी अपना, परापरा और परा देवतात्रय के क्रम में नवात्म-भैरव, रतिशेखर-भैरव और सद्भाव-भैरव हैं जो उन-उन देवताओं और भैरवों के क्रमश: द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत-प्रधान भावनाओं के परिपोषक हैं तथा उनकी उपासना प्रक्रियाओं से निबद्ध हैं। तन्त्रागमों का त्रैपुर-सिद्धान्त इन सभी उपासना भूमियों की उत्तर भूमिका है। यह भैरवकुल, कालीकुल, त्रिक आदि शास्त्रों का सारभूत, उनका समष्टि रूप और उनसे उत्तीर्ण भी है। इस सिद्धान्त में भी द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैतात्मक त्रिविध उपासक भूमियाँ हैं।

तन्त्रागम विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

वैदिक विज्ञान के अनुसार गायत्री मन्त्र का भावार्थ

पं. देवीदत्त शर्मा चतुर्वेदी

वैदिक विज्ञान के अनुसार हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं वह एक सौर मण्डल का भाग है। उसमें सूर्य, चन्द्र और अन्य ग्रह हैं। ऐसे अनेक सूर्य मण्डल हैं। यह बहुत सारे सूर्य मिल कर जिस अभिजित तारे से शक्ति प्राप्त करते हैं वह ब्रह्मा है। सभी सूर्यों को साथ लिए ब्रह्मा जिस ज्ञानमय ज्योति वाले महासूर्य से शक्ति और प्रकाश पाता है वह है—*ज्योतिषांज्योतिः*—सभी आकाशों को प्रकाश देने वाला। उसकी दिव्य ज्योति सारे ब्रह्माण्ड में फैली हुई है। इस सम्पूर्ण सृष्टि का नियन्ता होने के कारण उसे 'ईश्वर' कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ को उसी से सत्ता, प्रकाश, ज्ञान और ऊर्जा मिलती है। वही परम आत्मा है। उस परम ज्योति की रश्मियाँ एक सूत्र से आकर हमारे शरीर में और ब्रह्माण्ड के कण-कण में ओत-प्रोत होती हैं।

गायत्री हमें ज्ञान, प्रकाश और ऊर्जा की महासत्ता से जोड़ती है। वह हमें 'भूः' से आरम्भ करके 'भर्गो देव' की ओर ले जाती है और हमारी बुद्धि को त्रिगुण के भँवर से निकाल कर उस परम तत्त्व की ओर प्रेरित करती है जिससे लगातार अमृत वर्षा होती रहती है।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।।

मन्त्र का सम्पूर्ण भावार्थ

'ॐ' गायत्री का क्रम ॐ से आरम्भ होता है ॐ के ऋषि ब्रह्मा हैं। ॐ का अकार, उकार, मकारात्मक स्वरूप है। उसके अनुसार ॐ को सारी सृष्टि का मूल माना जाता है। ॐ से ही सारी सृष्टि का विकास होता है। यह एक स्वतन्त्र विषय है। यहाँ केवल गायत्री पर ही कुछ कहते हैं।

'भूः' सबसे पहले भूः शब्द आ रहा है, क्योंकि सामने वाली वस्तु को लाङ्घ कर कोई नई बात नहीं कही जा सकती, सामने वाली चीज भूः से आरम्भ की जा रही है। वास्तविक आरम्भ भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् से है। सत्यम् से भूः तक की स्थिति एक सूत्र से बँधी है किन्तु हमारी दृष्टि सत्यम् पर नहीं जा सकती। सामने की भूः को हम समझ सकते हैं इसलिए भूः से ही इसका आरम्भ करते हैं। दूसरी वैदिक रहस्य की बात है कि देवताओं की गणना में 'अग्निवै देवानां प्रथमः विष्णुः परमः' यह कहा जाता है। सबसे पहले अग्नि है, सबके अन्त में तैतीसवें विष्णु हैं। अग्नि शब्द परोक्ष भाषा का है। यह अग्नि (अर्थात् सबसे पहला) था जिसे बाद में अग्नि कहने लग गए। अग्नि का सम्बन्ध भूः से ही है और इसी अग्नि की सारी व्याप्ति हो रही है

इसीलिए प्रथम दृष्टि भू: पर ही जानी चाहिए। भू: का निर्माण कैसे हो रहा है। पृथ्वी तो पञ्च महाभूतों में सबसे आखिरी महाभूत है।

'भुव:' पहले पञ्च महाभूतों का कहाँ किस रूप में क्या होता है जिससे पृथ्वी बन रही है—उसका सारा श्रेय भुव: को होता है। भुव: नाम का जो अन्तरिक्ष है वह सोममय समुद्र से भरा है, अनवरत सोम की वृष्टि वहाँ से पृथ्वी पर होती रहती है किन्तु स्मरण रहे कि अकेले सोम की वृष्टि नहीं है। भू: भुव: स्व: ये तीनों सूत्र जुड़े हुए हैं। स्व: में आदित्य है। वहाँ अमृत और मृत्यु दोनों तत्त्व मौजूद हैं।

अमृत और मृत्यु दोनों तत्त्वों को साथ लेकर आदित्य की गति बताई गई है। उसमें भी आदित्य का ऊर्ध्व भाग आदित्य मण्डल है और वह आदित्य बारह मण्डलों में विभक्त है। बारहवें मण्डल पर विष्णु विराजमान हैं जो आदित्य मण्डल का ऊपरी अर्ध भाग है उसकी विवेचना वेद में अमृत रूप में आई है। नीचे का अर्ध भाग जो पृथ्वी से जुड़ा आ रहा है वह मृत्युमय है।

मृत्यु में अमृत का आधान हो रहा है। इस तरह से अमृत मृत्यु दोनों से जुड़ा हुआ तत्त्व जो सोम रूप में बनकर पृथ्वी पर उतर रहा है उसके बीच में अन्तरिक्ष ही सारा समुद्र-घर बना हुआ है। इस अन्तरिक्ष में हमारी पृथ्वी के जैसे अनन्त लोक विराजमान हैं जो सूर्य की ज्योति से ढके रहते हैं और सूर्यास्त के बाद तारों के रूप में खिल पड़ते हैं। उन तारों के स्थान में बैठकर पृथ्वी को देखें तो यह पृथ्वी भी एक तारे की तरह चमकती दिखाई देगी।

'स्व:' भू: से चला हुआ अग्नि भुव: को पार करके स्व: में जा रहा है। स्व: को संस्कृत में स्वर्ग वाची बताया गया है। स्वत: प्रत्यक्ष है, आदित्य से सम्बद्ध है जिसके एक-दूसरे से बड़े १२ मण्डल रूप विभाग हैं। इसका पौराणिक विवेचन जब देखते हैं तब इसका स्पष्टीकरण बहुत विशद रूप में होता है। वहाँ कहा गया है कि सूर्य के साथ हजारों सर्प, हजारों पक्षिगण, हजारों असुर, हजारों देवगण उदित हो रहे हैं। वे सिर्फ देखने के लिए उदित नहीं हो रहे हैं, बल्कि उन सबका क्रियामय कर्म चल रहा है। इधर अमृतभाव भी आ रहा है उधर विषभाव भी आ रहा है। सम्मिश्रित होकर पृथ्वी तक आ रहे हैं और यहाँ नीचे समुद्र में उनका मन्थन हो रहा है। मन्थन द्वारा जो किनारे पर पाङ्क-कीचड़ सिक्ता सूख कर पृथ्वी का रूप बनता चला जा रहा है।

गायत्री मन्त्र में कहा है भू:, भुव: स्व:। स्व: से आगे के व्याहृतियों के नाम क्यों नहीं ले रहे हैं। ये तो सात हैं, स्व: पर ही क्यों रुके हैं? इसलिए कि आगे के व्याहृतियों के व्याहृति के रूप में बोलने के लिए स्वरूप स्पष्टीकरण नहीं होता। व्याख्या जब तक नहीं आ जाए तब तक स्पष्टीकरण नहीं हो सकता कि क्या मह: है, क्या तप: है, क्या सत्यम् है। सत्य बोलने से क्या समझ में आएगा, इसलिए गायत्री उन सबका परिचय दे रही है।

'तत्' तत् शब्द को सम्बन्धपरक माना गया है। सम्बन्ध तो अनेक प्रकार के होते हैं। पञ्चमी विभक्ति से जुड़ा हुआ तस्मात् का भी तत् है। भू: भुव: स्व:, किसी तत् यानी स्व: से ऊपर का विचार हो रहा है। स्व: का निर्माण किससे हो रहा है। स्व: जितना भी है, वेद-विज्ञान के विचार के अनुसार जैसे हम हैं वैसे स्व: है। यहाँ पर जो अवधि सौ वर्ष की है वहाँ वही अवधि कालक्रम से हजार वर्ष की है। यद्यपि पुरुष मात्र शतायु होता है, देवता भी शतायु ही हैं किन्तु उनके सौ वर्ष हमारे हजार वर्ष होते हैं। स्व: की इस तरह की विवेचना पुराणों में खूब आती है लेकिन महाप्रलय में स्व: की भी समाप्ति तो हो ही जाती है। जन: नाम के परमेष्ठी मण्डल से स्व: का उदय हुआ, उसमें ही लीनभाव भी बताया गया। स्व: नाम का तत्त्व भी लीन होगा, वह भी चिरस्थायी नहीं है।

'तत्सवितुर्वरेण्यं' उससे ऊपर सविता है। सूर्य को जो सविता नाम दिया जाता है वह प्रतिबिम्बात्मक रूप में ही दिया जाता है क्योंकि सविता नाम वैदिक परिभाषा के क्रम में परमेष्ठी मण्डल के पाँच उपग्रहों में गिनाया गया है। शतपथ ब्राह्मण में एक ग्रह अतिग्रहभाव की विवेचना आई है, ग्रह-प्रतिग्रह (अतिग्रह)। ग्रह कहते हैं प्रधान को, उपग्रह कहते हैं गौण को। तो वहाँ पर सत्यलोक से चली हुई जो ज्ञानमयी शक्ति है उस ज्ञानमयी धारा का परमेष्ठी मण्डल की सोममयी धारा से सम्मिश्रण होता है और यह सम्मिश्रण युगलतत्त्व में जुड़ कर अद्वैत भाव ले लेता है।

'तत्सवितुर्वरेण्यं' के युगलतत्त्व को कभी हटाया नहीं जा सकता। यही अद्वैत है, एक प्रकाश रूप है, एक अन्धकार (काला) रूप है लेकिन स्मरण यह रहना चाहिए कि ये अन्धकार, ये कृष्णवर्ण ज्योतिर्मय तत्त्व है, इसमें ज्योति फूटती है।

यह कृष्णतत्त्व और सत्यलोक से आती हुई ज्ञानमयी धारा है जिसे उलट करके 'राधा' कहा जाता है, प्रत्येक कार्य की पूर्णता राधा तत्त्व से होती है। चक्षु में बाहरी सफेदी के रूप में राधा ने ही काले तारे को अपने अञ्चल में ले रखा है। यही युगल भाव है। यहाँ दोनों शक्तियाँ जुड़ती हैं वो प्रकाशमयी है। यहाँ अन्धकार (काला) भी है। प्रकाश और अन्धकार को कोई अलग नहीं कर सकता, इसी का नाम अद्वैत है। सबूत यह है कि लाइट जल रही है जितनी पॉवर की लाइट है इससे चतुर्गुण पावर और बढ़ाकर लाइट जलाई जाएगी तो यह प्रकाश चतुर्गुण होकर दिन की तरह उजाला हो जाएगा। पॉवर और भी बढ़ाएंगे तो और उजाला होगा। तब प्रश्न यह होता है कि अगर सभी सारा अन्धकार इस लाइट ने खत्म कर दिया है तो और उजाला काहे का हुआ। उजाला तो अँधेरे को हटाने को कहते हैं। उजाला और बढ़ता चला जाता है, इसके मायने अँधेरा हटा ही नहीं है। अँधेरा मौजूद है, उस पर उजाला बढ़ता चला जाता है। वास्तव में यही स्वरूप होता है। अँधेरा उजाला कोई बिल्कुल अलग-अलग कर दे यह सम्भव नहीं है। अर्थात् चाहे इसे राधा-कृष्ण युगल कहें, चाहे शङ्कर-पार्वती कहें, चाहे राम-सीता कहें, इनमें से एक शक्ति सोममयी है एक अग्निमयी। इस अग्नि-सोम के जुड़ा को—ज्योतिर्मय तत्त्व को अलग नहीं कर सकते, इसी का नाम अद्वैत है। इस अद्वैत से ज्योति

फूटती रहती है। ज्योति से आगे क्रिया भाव चलते हैं, यह स्वयं कुछ नहीं करती है। जैसे आकाश फैला हुआ है उसी तरह ज्योति का समुद्र फैला हुआ है। ज्योति समुद्र को माया, महामाया, प्रकृति, योगमाया इन शक्तियों द्वारा एक-एक घेरे में लेते जाना, सृष्टि का विकास करना, यह क्रम आगे चलता है।

वहाँ लिखा है 'सवितुर्वरेण्यं' जिस सविता का भी कोई वरेण्यभाव बताया जा रहा है वह सविता कहाँ है। तो वही बताया—प्रधान-प्रधान ग्रह हुए राधा-कृष्ण। उनके पाँच उपग्रह—धरुण (वरुण), सविता, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति और शनि के बाद ही सूर्य का निर्माण होगा। ये शनि सूर्य से बहुत ऊपर है। धरुण को हम वरुण कहते हैं। यह परोक्षभाषा का शब्द है। धरुण क्यों कहते हैं—सारे संसार का धारण उससे होता है। इसी को पुराणों में क्षीर सागर कहा गया है और वहाँ वह क्षीर सागर भी उपलक्षण रूप में कहा गया है। वेद मन्त्रों में उसकी लम्बी व्याख्या हुई है—'त एते पयः समुद्राः। त एते दधि समुद्राः। त एते मधु समुद्राः। त एते घृत समुद्राः। त एते इक्षु समुद्राः।'

यही कहते हुए सब चीजों का पृथक् वर्णन किया गया है। वहाँ पर एक 'क्षीर सागर' शब्द से सबका सङ्केत कर दिया गया है। हमारे पास भी सागर है—वह क्षार सागर है। सूर्य से ऊपर का सागर क्षीर सागर है।

क्षार का क्षीर कैसे बना

हमारा समुद्र का जल क्षार यानी नमकीन है। बादल यह जल लेकर ऊपर-आकाश में जाते हैं। अन्तरिक्ष में वायु उस क्षार का शोधन करता है और वह क्षीर होकर वर्षा के माध्यम से जब पृथ्वी पर फिर आता है तो हमारे समुद्र का नमकीन जल मधुर हो जाता है। इस धरुण यानी क्षीर सागर के पहले उपग्रह के बाद दूसरा नम्बर आता है सविता का। सविता के लिए लिखा गया है—**'सविता वै अस्माकं प्रसविता।'** सविता ही सारी सृष्टि का मूलाधार है सारी सृष्टि का प्रसव सविता से ही हुआ करता है, जिसे हम आधुनिक भाषा में विद्युत् शक्ति कहते हैं वही सविता है। विद्युत् में 'निगेटिव' तथा 'पॉजिटिव' दो तत्त्व होते हैं। ये ही सविता के युगल तत्त्व हैं। सविता तत्त्व के लिए ही गायत्री सङ्केत कर रही है—**'तत्सवितुर्वरेण्यं'** यहाँ सविता ही महत्त्वपूर्ण है अतः पाँचों तत्त्वों का विवेचन न करके केवल सविता का विवेचन कर रहे हैं।

गायत्री के जरिये जिस तत्त्व को पकड़ने की कोशिश की जा रही है वह कौन है? वह सविता का भी वरेण्य है या पूज्यनीय है। उपग्रह रूप से सविता तत्त्व है जो सारे संसार का प्रसव करने वाला महाशक्तिमान् तत्त्व बताया गया है। उस सविता को जो पूज्यनीय या वरेण्य है वह लक्षभूत तत्त्व है। क्या है वह वरेण्य? कहते हैं**—'भर्गोदेवस्य धीमहि'**—अपने सूर्य की ओर दृष्टि कर के हम सूर्य को नहीं देख पाते। ऐसे हजारों सूर्य एकत्र हो जाएँ, इतना तेज है वहाँ पर—इसलिए उसे 'भर्ग' कहा जा रहा है। उसे चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। वही भर्गदेव है युगल तत्त्व, गायत्री का मूल स्रोत, अग्नि सोममय युगल तत्त्व। इसके एक-एक कण में से निकलकर सैकड़ों ब्रह्माण्ड बनते जा रहे हैं—वेद मन्त्र के अनुसार जहाँ विशाल अग्नि जल

रहा है जिसमें से अग्नि के कण निकल निकल कर उचटते जा रहे हैं, एक-एक कण रूप में। उसमें से अनन्त ब्रह्माण्ड निकलते जा रहे हैं—उसका ध्यान किया जा रहा है। **'भर्गोदेवस्य धीमहि'**—ध्यान करते हैं। प्रत्य तो उसको देख नहीं सकते। जब सूर्य को नहीं देख सकते तो उसको कहाँ से देख सकेंगे इसलिए उसका ध्यान मात्र किया जा सकता है। यह कहकर क्या चाहते हैं?

'धियो योन: प्रचोदयात्'— वह हमारी बुद्धि की प्रेरणा करे। 'चुद्' धातु प्रेरणा के लिए आता है। संसार में बिना बुद्धि के भी क्या कोई कार्य होता है? सारा संसार बुद्धि के जरिए ही तो चल रहा है। फिर 'धियो योन: प्रचोदयात्' का क्या अर्थ है? यह कि जिस बुद्धि के द्वारा सारा संसार चल रहा है वह बुद्धि त्रिगुण में फँसी हुई है—कभी सतोगुणी होती है, कभी रजोगुणी बनती है अहङ्कार जाग्रत हो जाता है, कभी तमोगुणी बनती है। इस त्रिगुण में फँसी हुई जो बुद्धि है उससे संसार चक्र तो चलता रहेगा। लेकिन जो युगल तत्त्व—अद्वैत बताया है जिसमें सारी शक्तियों का भण्डार भरा हुआ है, जहाँ अमृतमयी शक्ति की वर्षा के लिए इस त्रिगुण से बाहर निकलना होगा। त्रैगुण्यमयी बुद्धि के द्वारा हम चाहें कि 'भर्गोदेव' की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसलिए गीता के उपदेश के पहले अर्जुन से कहा जा रहा है **'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'** तब मेरी बात को समझ सकेगा। त्रैगुण्य में तो घूमता ही रहेगा इसलिए प्रार्थना की जा रही है—'धियो योन: प्रचोदयात्'। हमारी इस बुद्धि को त्रैगुण्य में से निकालकर वहाँ के लिए प्रेरणा करिये कि वह 'भर्गोदेव' की ओर जा सके। इस बुद्धि का नाम प्रज्ञा है। प्राज्ञ नाम इन्द्र का है और इन्द्र युगलतत्त्व से जुड़ा हुआ है—इसलिए हमारा अन्तिम पुल (सेतु) इन्द्र है। त्रिगुण के चक्कर से बाहर आई हुई प्रज्ञा बुद्धि ही हमें भर्गोदेव की ओर ले जा सकती है। वह भर्ग देव साक्षात् राधा-कृष्ण युगल तत्त्व अद्वैत है। गायत्री हमें इसी अग्नि सोममय युगल तत्त्व का ध्यान करने को प्रेरित करती है जिसे चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता और जो सभी ब्रह्माण्डों का शक्ति स्रोत है।

❑

गायत्री मन्त्र का तान्त्रिक विधि-विधान

डॉ. हर्षदेव माधव

गायत्री मन्त्र *ऋग्वेद* के तृतीय मण्डल का ६१-१०वाँ मन्त्र है। इस मन्त्र का दर्शन विश्वामित्र ने किया है और इसकी देवता सविता है। इस चमत्कारिक शक्ति वाले मन्त्र का भावार्थ वैसे तो सरल है—'सविता देव के उस वरेण्य तेज को हम प्राप्त करें जो हमारी भावनाओं को प्रेरित करे'।[1] सायण 'धीमहि' शब्द का अर्थ स्थापितवन्त, निधीमहि, स्थापयाम:, धारयाम: ऐसा लेते हैं। कीथ का अर्थघटन इस प्रकार है—

"That excellent glory of savitar, the god we medetatele that he may stimulate our prayers."

श्री यान होण्डा का अर्थघटन इस प्रकार का है—

"We should like to obtain that desirable radiance of savitar the light of heaven in its dynamic moving and mobile aspect, the difine 'motor' which impels the sun...who will excite our wisions."[2]

गायत्री मन्त्र का वाचन 'सविता' देव को सम्बोधित करते ही किया जाता है।[3]

किन्तु 'सविता' देवता का यह मन्त्र 'गायत्री' मन्त्र बन गया है। इस छन्द का नाम 'गायत्री' है किन्तु गायत्री ही देवता बन गयी है और देवी के रूप में पूजित भी है, यह एक अद्भुत घटना है।

हम यहाँ गायत्री मन्त्र का तान्त्रिक दृष्टि से विचार करेंगे।

सामवेदान्तर्गत सावित्री उपनिषद् में १०२ अक्षर वाला गायत्री महामन्त्र है जो 'बलातिबला महाविद्या' ही है **ॐ ह्रीं बले महादेवी, ह्रीं महाबले, क्लीं चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धिप्रदे, तत्सवितुर्वरदात्मिके, वरेण्यं, भर्गो देवस्य वरदात्मिके, अतिबले सर्व-दयामूर्त्ते बले, सर्वक्षुद्रभ्रमोपनाशिनि धीमहि, धियो यो नो जाते प्रचुर्य: या प्रचोदयादात्मिके, प्रणवशिरस्कात्मिके, हुम् फट् स्वाहा।।** यह गायत्री मन्त्र का ही तन्त्रात्मक विस्तार है।[4] यह गायत्री मन्त्र के अन्त में ॐ लगाकर अजन्त विलोम और हलन्त विलोम के साथ पाठ किया जाता है। जैसा कि—

लोम : ॐ भुर् भुव: स्व: ॐ तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो न: प्रचोयादयात् ॐ (३०)

अजन्त विलोम : ॐ यात् द चो प्र न: यो यो धि हि म धी स्य व दे र्गो भ ण्यं रे र्व तु वि स तत् ॐ स्व: व: भु भूर् ॐ (३०)

हलन्त विलोम : म्व ताय अद् ओच् अरप् हन्, ओय् ओय् इ ध इह अम् ईध् अय्स् अव् एद् ओ गर् अभ मय्ण् एर् अव् इवुत् अस् तत् म्व् हवस् हव् उभ् भ् म्व।। (३०)

तन्त्र ग्रन्थों में गायत्री मन्त्र के साथ भिन्न-भिन्न बीज मन्त्रों के साथ जप करने की प्रक्रिया और उसके द्वारा प्राप्य फलों का निर्देश है। रुद्रयामलतन्त्र में *त्रिपदा गायत्रीस्तवराज*[5] ऐसा स्तोत्र है जिसमें ऐसी प्रक्रिया बतायी गई है। प्रत्येक कार्य के लिए स्वतन्त्र मन्त्र योजना गायत्री मन्त्र से ही हो सकती है जैसा कि—

कं बीजमन्त्रं शिवशक्तिरूपं ,त्रिभिर्जपेद् यस्त्रिपदास्वरूपम्।
स: कामुक: कामकलाविदग्धो, भवेत् तु रम्भारतिभोगभोगी।।[6] — *त्रिपदा गायत्रीस्तवराज*

तन्त्र ग्रन्थों में एकाक्षरा रौद्री, त्र्यक्षरा काम और वरुणोपासिता, नवाक्षरा इन्द्राण्युपासिता, षोडशाक्षरी, हारीतोपासिता, तथा वज्र, दक्ष, चन्द्र, हिरण्यकशिपु और ब्रह्मोपासिता, सप्तदशाक्षरी वसिष्ठोपासिता तथा विष्णुतत्त्वा अम्बा हृदया रुद्र-सेविता, विश्वदेवोपासिता, रावणोपासिता, ३६ अक्षरा जयमङ्गला और भोगविद्या, शताक्षरा, सहस्राक्षरा, अयुताक्षरा महाशाम्भव, पाशुपत एवं वनदुर्गा गायत्री के भी वर्णन हैं। इन मन्त्रों के बीज अलग हैं किन्तु मूल गायत्री मन्त्रों के समान ही हैं।[7]

गायत्री मन्त्र के वर्णों का वर्गीकरण एवं बीजों का महत्त्व

अ	कैवल्य स्थित परमात्मा का अहङ्कार, अकुल	मृत्युनाशक
उ	विश्व का ज्ञानात्मक उन्मेष	बलप्रद
म्	उन्मेष का प्रसार	माला, अग्नि और रुद्र का बीज; स्तम्भन, मोहन के लिए उपयोगी

गायत्री मन्त्र – तान्त्रिक दृष्टि से

भ्	उन्मेष का प्रसार	भद्रकाली का बीज; भूत-प्रेत और पिशाचों से छूटने के लिए
ऊ	ज्ञेयांश के आभास से ज्ञान की साम्प्रत सङ्कोच से ऊनता	उच्चाटन करने वाला

र्	राग	अग्निबीज तथा उग्र कर्मों की सिद्धि देने वाला
भ	उन्मेष का प्रसार	भद्रकाली का बीज
उ	विश्व का ज्ञानात्मक उन्मेष	बल देने वाला अक्षर
वः	विद्या, विसर्ग शक्ति रूप है	वरुण बीज, विष तथा मृत्युनाशक
स् वः	लुब्धेच्छा का उन्मेष	वाणीबीज; ज्ञान, सिद्धि और वाक्सिद्धिदायक व—वरुणबीज एवं विसर्ग—मृत्युनाशक
तत्	लुब्धेच्छा का प्रसार	आठ वसुओं का बीज
स	लुब्धेच्छा का उन्मेष	वाणी बीज
वि	विद्या, उन्मेष का आवृत्त भाव से अवस्थान	वरुण बीज एवं इ—पुष्टिकारक बीज
तुर्	लुब्धेच्छा का प्रसार एवं राग	वसु बीज, उ बलदायक, र् अग्निबीज वरुण बीज
व	विद्या	वरुण बीज
रे	राग और अनुत्तर का तीव्रातीव्रेच्छा का गाढ़ आलिङ्गन	र—अग्निबीज एवं ए—वश्य करने वाला बीज
ण्यम्	अलुब्धेच्छा का प्रसार, नियति, उन्मेष का प्रसार	असुर बीज, वायु बीज, उच्चाटन करने वाला, म—माला, अग्नि और रुद्र का बीज
भ	उन्मेष का प्रसार	भद्र काली का बीज
र्	राग	अग्नि बीज
ग्	शक्ति प्रसार	गणपति बीज
ओ	अनुत्तर के साथ या तन्निष्ठ आनन्द के साथ ईषदनीषद् ज्ञानोन्मेष का गाढालिङ्गन	लोकवश्यकारक
द्	लुब्धेच्छा का प्रसार	दुर्गा बीज; वश्य एवं पुष्टि के लिए उत्तम
ए	अनुत्तर के साथ या तन्निष्ठ आनन्द के साथ तीव्रातीव्रेच्छा का गाढालिङ्गन	वश्य करने वाला
व	विद्या, उन्मेष का आवृत्त भाव से अवस्थान	वरुण बीज

स्य	लुब्धेच्छा का उन्मेष, नियति	वाणी बीज एवं वायु बीज
ध्	लुब्धेच्छा का प्रसार	सूर्य बीज; यश और सुख की वृद्धि के लिए
ई	ईशन इच्छा का प्राबल्य	आकर्षण करने वाला
म्	उन्मेष का प्रसार	माला, अग्नि और रुद्र का बीज; स्तम्भन तथा मोहन कर्म में उपयोगी
ह्	अनुत्तर का उन्मेष	आकाश एवं शिव बीज
इ	विश्व सृष्टि के लिए इच्छा	पुष्टिकारक
य्	नियति	वायु बीज; उच्चाटनकारक
ओ	अनुत्तर के साथ या तन्निष्ठ आनन्द के साथ ईषनीषद् ज्ञानोन्मेष का गाढ़ालिङ्गन	लोकवश्यकारक
नः	लुब्धेच्छा का प्रसार; विविध सर्ग हेतु आद्याशक्ति	ज्वर, एकान्तर ज्वर आदि को दूर करने वाला विसर्ग—मृत्युनाशक
प्र	उन्मेष का प्रसार और राग	वीरभद्र एवं वरुण का बीज र्—अग्निबीज
च्	शक्ति प्रसार	चन्द्र बीज
ओ	अनुत्तर या तन्निष्ठ आनन्द के साथ ईषदनीषद् ज्ञानोन्मेष का गाढालिङ्गन	लोकवश्यकारक
द	लुब्धेच्छाप्रसार	दुर्गा बीज; वश्य एवं पुष्टि के लिए उत्तम
य	नियति	वायु बीज
आ	आनन्द	आकर्षण करने वाला
त्	लुब्धेच्छा का प्रसार	वसु बीज[8]

गायत्री मन्त्र के स्वर एवं व्यञ्जन

स्वर	तत्त्व	नाड़ी	चक्र
अ	वायु	इडा	विशुद्ध चक्र
उ	पृथ्वी	इडा	विशुद्ध चक्र

इ	अग्नि	इडा	विशुद्ध चक्र
ए	वायु	इडा	विशुद्ध चक्र
ओ	जल	इड	विशुद्ध चक्र
ई	अग्नि	इडा	विशुद्ध चक्र
आ	वायु	इडा	विशुद्ध चक्र
व्यञ्जन एवं अर्द्धस्वर	**तत्त्व**	**नाड़ी**	**चक्र**
म	आकाश	सुषुम्णा	स्वाधिष्ठान
स्	जल	सुषुम्णा	मूलाधार
वः	जल	सुषुम्णा	मूलाधार
तत्	वायु	पिङ्गला	मणिपुर
व	जल	सुषुम्णा	मूलाधार
र	अग्नि	सुषुम्णा	स्वाधिष्ठान
ण	आकाश	पिङ्गला	मणिपुर
य	वायु	सुषुम्णा	स्वाधिष्ठान
भ	जल	सुषुम्णा	स्वाधिष्ठान
ग	पृथ्वी	पिङ्गला	अनाहत
द	पृथ्वी	पिङ्गला	मणिपुर
ध	जल	पिङ्गला	मणिपुर
ह	आकाश	सुषुम्णा	आज्ञा
न	आकाश	पिङ्गला	मणिपुर
प	वायु	पिङ्गला	मणिपुर
च	वायु	पिङ्गला	अनाहत[9]

गायत्रीतन्त्र के अनुसार गायत्री मन्त्र के वर्णों का न्यास, उनका वर्णन और उनके पूजन करने वाले देवता निम्न प्रकार से हैं—

	न्यास के स्थान	**वर्णन**	**देवता**
तत्	पैर का अङ्गूठा	चम्पक समान पीत	अग्नि, महेश
स	पैर की अङ्गुलियों के मध्य में	श्याम	प्रजापति
वि	दोनों जाङ्घों में	कपिल	सोम
तु	जानुओं के मध्य में	इन्द्रनील समान	वेद
र्व	मध्यदेश	जलते अग्नि सदृश	आदित्य
रे	गुह्य देश में	अग्नि सदृश	बृहस्पति
ण्	अण्डकोश में	अतिनिर्मल श्वेत	इन्द्र
यं	कटि प्रदेश में	बिजली के रङ्ग के समान	पितृदेव
भ	नाभि में	कृष्ण	अर्यमा
र्गो	उत्तरप्रदेश में	रक्तवर्ण	सावित्री
दे	स्तन भाग में	श्याम	त्वष्टा
व	हृदय में	शुक्ल	पूषा
स्य	कण्ठ में	श्याम	इन्द्र और नील
धी	मुख में	कुन्द पुष्प सदृश	वामदेव
म	जानु में	शुक्ल	वायु
हि	नासिकाग्र में	चन्द्र समान	मित्रावरुण
धि	दोनों नेत्रों में	पीत	अङ्गिरा
यो	भौंहों के मध्य में	तडिदाकार	विश्वदेव
यो	(दूसरा) ललाट में	धूम वर्ण	विष्णु

नः	मुख में	सोने के रङ्ग के समान, विसर्ग का रक्त एवं श्याम वर्ण	वासव
प्र	मुख के दाहिनी ओर	नीलकमल समान	इष्ट
चो	मुख के पश्चिम भाग में	गोरोचना-पीत	कुबेर
द	मुख के उत्तर की ओर	शुक्ल शङ्ख समान	अश्विनी कुमार
यात्	मस्तक में	रक्त वर्ण	ब्रह्मदेव[10]

गायत्रीतन्त्र के मन्तव्य से

बिन्दुना जायते बिन्दुर्गायत्री बिन्दुना भवेत्।
गायत्र्यां जायते सर्वं ब्रह्माण्डं कोटि-कोटिशः।। — *गायत्रीतन्त्र ३-२९*

गायत्री मन्त्र के वर्णों से कई सिद्धियाँ मिलती हैं।

ॐ		ब्रह्मा, विष्णु, महेश
त	रूप सिद्धि	
त्स	रस सिद्धि	
वि	गन्ध सिद्धि	
तु	स्पर्शसिद्धि	
व	शब्द सिद्धि	गायत्री का गुप्त शीर्ष
रे	त्वक् सिद्धि	
ण्य	प्राण सिद्धि	
म्	रसना सिद्धि	
भ	अक्षि सिद्धि	
र्गो	श्रोत्र सिद्धि	गायत्री की कुक्षि
दे	वाक्य सिद्धि	

व	हस्त सिद्धि	
स्य	पाद सिद्धि	गायत्री का गोत्र
धी	लिङ्ग सिद्धि	
म	पृथ्वी सिद्धि	
हि	जल सिद्धि	
धि	वह्नि सिद्धि	
यो	शून्य सिद्धि	गायत्री का देवता
यो	वायु सिद्धि	
नः	समस्त सिद्धि	ब्रह्मकला जीवमय
प्र	मनः सिद्धि	
चो	बुद्धि सिद्धि	
द	अहं सिद्धि	
यात्	चित् सिद्धि	गायत्री का पाद[11]

भूर्भुवः स्वः के वः एवं स्वः के विसर्ग में स्त्री पुरुषात्मिका शिव शक्ति रूप हंस है।

गायत्री मन्त्र एक चमत्कारिक शक्ति वाला मन्त्र तो है, मगर रहस्यमय भी है। तान्त्रिक दृष्टि से गायत्री मन्त्र के आस-पास कुछ बीज मन्त्रों का सम्पुट लगाने का भी विधान है। जैसे कि—

ॐ	—	लक्ष्मी प्राप्ति
ॐ ऐं क्लीं सौः	—	विद्या प्राप्ति
ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं	—	सन्तान, वशीकरण एवं मोक्ष
ॐ ऐं ह्रीं क्लीं	—	शत्रु, उपद्रव, विघ्न, सङ्कट आदि का नाश
ॐ ह्रीं	—	रोगनाश
ॐ आं ह्रीं क्लीं	—	द्रव्य रक्षा और वृद्धि[12]

अन्त में यह लिखने का साहस करता हूँ कि गायत्री मन्त्र के तीन चरण हैं, भूः, भुवः, स्वः तीनों पदों का उच्चारण किया जाता है, गायत्री के यन्त्र में त्रिकोणाकृतियाँ होती हैं—जिनका सम्बन्ध तान्त्रिक त्रिकोण के साथ है। गायत्र के भी ब्राह्मी, वैष्णवी, माहेश्वरी ये तीन हैं। गायत्री ही ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति, इच्छा-शक्ति है जो 'भूः भुवः स्वः' पदों से अभिहित है।

(गायत्री तन्त्र, द्वितीय पटल) गायत्री मन्त्र के तीन चरण (१) शीर्ष, चक्षुश्रोत्र, प्राण, (२) मुख, हस्त-पाद एवं नाभि, (३) कण्ठ, त्वचा एवं उत्सर्गेन्द्रिय हैं। गायत्री भी त्रिकोण में व्यवस्थित पराशक्ति है।[13]

गायत्री कवच के अनुसार गायत्री मन्त्र के अक्षरों में ही गायत्री का शरीर है।

१-४ — गायत्री का हृदय
५-७ — गायत्री का शिर
८-११ — गायत्री की शिखा
१२-१४ — गायत्री का कवच
१५-१८ — गायत्री के नेत्र
१९-२२ — गायत्री के अस्त्र

गायत्री श्रेष्ठ कला है। तत् उसका बीज है। भर्ग शक्ति है।

गायत्री मन्त्र के वर्णों से उसका उपासक अपने शरीर की कामना करता है। गायत्री मन्त्र के पदों एवं वर्णों से भिन्न-भिन्न अवयवों की रक्षा होती है। जैसे कि—

तत्=दो पैर, **सवितुः**=दो जङ्घा, **वरेण्यम्**=कटि, **भर्गो देवस्य**=हृदय, **धीमहि**=कपोल, **धियः**=दो नेत्र, **यः**=ललाट, **नः**=मस्तक, **प्रचोदयात्**=शिखा, **तत्**=मस्तक, **स**=भाल प्रदेश, **वि**=दोनों नेत्र, **तु**=कपोल **व**=नाक के छिद्र, **रे**=मुख, **णि**=ऊर्ध्व ओष्ठ, **य**=अधरोष्ठ, **भ**=मुख, **यो**=कटि, **यो**=गुह्य, **नः**=उरू स्थल, **प्र**=जानु, **चो**=जङ्घाप्रदेश, **द**=गुल्फ या दो पैर, **त्**=सर्व अङ्ग (गायत्री कवच)।

गायत्री स्तोत्र के अनुसार गायत्री प्रातःकाल में बाला है, मध्याह्न के समय युवा है और सायंकाल वृद्धा है। यही स्वरूप तन्त्रशास्त्रों में बाला त्रिपुराम्बा, षोडशी और धूमावती का है। गायत्री को इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति कहा गया है। शरीर की विभिन्न नाड़ियों में अवस्थित एवं ब्रह्मरन्ध्र में रहने वाली कुण्डलिनी गायत्री ही है। यह स्तोत्र गायत्री म को तान्त्रिक योग के साथ जोड़ देता है।[14]

भूर्लोक में — लोकधारिणी
भुवर्लोक में — वायुशक्ति
स्वर्लोक में — तेजोरूपिणी है।

गायत्री यन्त्र के मध्य में भी बिन्दु होता है, जो 'तान्त्रिक' परिभाषा में शिव और शिवा का सामरस्य है। गायत्र के जप के समय भी २४ मुद्राएँ करनी होती हैं। गायत्री यन्त्र के त्रिकोण एवं मुद्राओं का वर्णन भी मिलता है, जिससे उनका सम्बन्धतन्त्रों के साथ कितना गाढ़ है, यह स्पष्ट होता है।

गायत्री मन्त्र के उच्चारण में भी कई तान्त्रिक रहस्य हैं। वर्णों का उच्चारण शरीरस्थ चक्रों एवं नाड़ियों पर प्रभावक सिद्ध होता है, उसके साथ-साथ जागृति, निद्रा, सुषुप्ति एवं तुरीय अवस्थाएँ भी अनुभूत होती हैं। गायत्री मन्त्र ब्रह्मज्ञानमय है ऐसा गायत्री तन्त्र का कथन (चतुर्थ पटल २८) गम्भीर रहस्यों को सूचित करता है, यहाँ तो सिर्फ दिशासूचन ही है।

सन्दर्भ

1. सं. शुक्ल डॉ. जयदेव भाई — *ऋग्वेद* तृतीय मण्डल, गुज. यूनि., प्रथम १९८७, पृ. ३८८
2. वही, पृ. ३८९
3. श्रीराम शर्मा आचार्य — *ऋग्वेद संहिता*, प्रथम खण्ड, तृतीय संस्करण, वि.सं. २०५३, पृ. १६, परिशिष्ट २
4. श्री सदाशिव — *बलातिबला महाविद्या*, मोटेरा, अहमदाबाद-५, द्वितीय संस्करण, १९८१, पृ.८६
5. वही, पृ. १२०-१२१
6. त्रिपाठी, डॉ. रुद्रदेव — *रुदयामलतन्त्र*, रञ्जन पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, १९९४, पृ. २४५
7. वही, पृ. २८५ की पादटीप
8. शतपथी डॉ. लडुकेश्वर — *वर्ण परिवर्तन रहस्य निरूपणम्*, द्वितीय खण्ड, बी.पी. शतपथी पुरी, प्रथम, १९९२, पृ. १७५-१७९ और त्रिपाठी, डॉ. रुद्रदेव — *मन्त्र शक्ति*, रञ्जन पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९९४, पृ. ४६-४८
9. Shah Pragna R. — *Tantra its therapeutic Aspect*, Punthi Pustak, Calcutta, 1987, First. p. 5
10. सं. भट्टाचार्य तारकनाथ — *गायत्रीयन्त्रम्*, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, तृतीय, वि. २०४१, प्रथम पटल
11. वही, तृतीय पटल
12. *मन्त्रशक्ति*, पृ. १०४
13. His Holiness Prabhu Ashrit Swamiji — Gayatri Rahasya, Himalayan Books, New Delhi, Reprint 1986, p. 218
14. सं. शास्त्री चन्द्रकान्त भट्ट — *श्रीगायत्री कवच अने बीजां सात कवचो* (गुजराती), सस्तु साहित्यवर्धक कार्यालय, द्वितीय, १९८८, पृ. १-११

८ राजतिलक, बैंग्लो
आबादनगर के पास बोपल
पो. अहमदाबाद- ३८००५८
चलवाणी- ०६४२७६२४५१६

❑

शैव और शाक्त दृष्टियों की अवैदिकेतरता

डॉ. आशुतोष आङ्गिरस

प्रस्तुत लेख में मैंने अवैदिकेतरता शब्द का प्रयोग थोड़ा साभिप्राय किया है। क्योंकि जब सूक्ष्म चेतना की बात हो रही है तो सीधे यह कहना कि उस चेतना का अमुक भाग केवल वैदिक है। या निषेध-पद्धति से उसे यह कहना कि वह पूर्ण अवैदिक है, थोड़ा धर्मसङ्कट का काम है जैसे कि कोई सन्तान पुरुष हो या स्त्री, उसकी सङ्घटना या संरचना को देखते हुए उसे माता या पिता में से केवल किसी एक की रचना नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सृष्टि तो सारी ही उभयनिष्ठ है। अत: प्रस्तुत प्रयोग यह कहने के लिए है कि शैव-शाक्त दृष्टियाँ न तो केवल वैदिकता से भिन्न कुछ नहीं हैं ऐसे कही जा सकती हैं और न ही ऐसे सीधे कहा जा सकता है कि पूर्णत: अवैदिक ही है। यह चेतना तो वास्तव में शास्त्र और लोक का आपस में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

बहुत-से प्राच्य-विद्याओं के अध्ययन में रत देशी और विदेशी विद्वानों ने कुछ नवीन विज्ञान-विद्याओं से प्रेरित होकर कुछ ऐसी युक्तियों से सिद्ध कर दिया है कि भारत में समस्त ज्ञान-चेतना का विकास दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं के पहले आपसी टकराव, फिर समन्वित होते रहने की प्रक्रिया का परिणाम है। आर्यों और आर्येतरों के पृथक्-पृथक् मानसों की कल्पना करने से उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले उससे सिद्ध कर दिया कि भारतीय चेतना का अपना मूलरूप कुछ भी नहीं है। बाहर से आए आक्रान्ता आर्यों की कुछ-कुछ कर्मकाण्डीय आचार-विचार पद्धतियाँ इस भूखण्ड के मूल निवासियों के जीवन में आक्रान्ता या शास्ता के जीवन-धर्म के रूप में पहले आरोपित हुई फिर उसमें घुल-मिल गईं। लेकिन इस मिश्रण में आर्यों के पक्ष की जो बातें थीं वे मूलत: यज्ञ-प्रथा, संस्कृत-भाषा, देववाद, आत्मा और ब्रह्म का सिद्धान्त—ये चार थीं। और अनार्य या वैदिकेतर पक्ष की जगन्मिथ्यात्ववाद, घोर आत्मत्याग, पूजा-अर्चा, योग-प्रणाली और नास्तिकता ये पाँच प्रवृत्तियाँ एक दूसरे में समा गईं।[1] इन पाँच और चार के सङ्घट्ट से भारतीय संस्कृति का नवयोन्यात्मक चक्र बना हुआ है। यह चक्र वैदिक और आगमिक धाराओं का मिलन है।

आपातत: यह बात कुछ सीमा तक बुद्धिसङ्गत लगने पर भी हमें लगता है कि इस प्रकार का विश्लेषण नितान्त सम्पूर्णत: बहिर्मुखी विद्याओं के अध्ययन के आधार खड़ा किया गया है जो मानव मस्तिष्क की समन्विति को तोड़ता है और पारस्परिक सहिष्णुता आदि को ऐसी ऊपरी या सतही अवधारणाओं को खड़ा

करने में सहायता भी देता है जो किसी राष्ट्रकुल या तन्त्र को एक सूत्र में अधिक देर तक बँधी नहीं रहने देतीं। आर्ष-दृष्टि ने इस राष्ट्र या कुल की जो रचना की थी उसका निर्धारण भारतीय वाङ्मय में प्राप्त अन्तःसाक्ष्यों और इस राष्ट्र के लोक विश्वासों के तर्कपूर्वक किए गए अनुशीलन से ही हो सकता है। और तभी भारतीय प्राच्य-विद्याओं के अनुशीलन में सौ साल से भी ऊपर काल से अटकी हुई पाश्चात्यों की भारतीय संस्कृति-सम्बन्धी अवधारणाएँ या तो अग्रसर होकर रूपान्तरित होंगी या टूटेंगी, और तभी यथार्थ का स्वरूप भारतीय लोक-जीवन में अपनेपन के साथ जुड़ कर अभ्युदय और निश्रेयस की सही कल्पना का साक्षात्कार करेगा।

आगम और तन्त्रशास्त्र की अवैदिकता को तब तक प्रमाणित नहीं किया जा सकता जब तक हम और अधिक श्रुतिदर्शन की आपातिक समानताओं के अतिरिक्त उनकी मूल चेतना में समानान्तरता को नहीं जाँच लेते। इस दृष्टि से शैव दर्शन में भी केवल त्रिक-दर्शन ही यहाँ हमारा आलोच्य विषय है। और उसके साथ पूर्ण सङ्गति रखने वाले उसी के अङ्गभूत, कुल, क्रम और स्पन्द दर्शन भी हमारे अध्ययन की परिधि में आ जाते हैं। इन सभी दृष्टियों की यदि साधना-प्रक्रिया एवं तत्त्व ज्ञान-प्रक्रिया को वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों की मूल चेतना के साथ मिला कर देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि वेद वेदाङ्ग के ही कुछ विद्वान् अपने-अपने अध्ययन को सर्वोच्च मान कर उसी में रत रहने लगे थे। अथवा अपने-अपने आम्नाय-क्रम को ही सर्वोत्कृष्ट कह कर परम्परा की धारा से विच्छिन्न होते जा रहे थे, और ऐतिहासिक अन्विति की धारा से अलग-थलग पड़ते जा रहे थे। तन्त्र और आगम की दृष्टि उन्हीं को लोक-सम्बद्ध और उपयोगी रखने के लिए सचेष्ट रही, तो तत्त्व-ज्ञान धीरे-धीरे सामान्यजन से परे हट कर ऊपरी स्तर के कुछ सामाजिक वर्गों की कारा में बंद होता जा रहा था उसी को पुनः-पुनः मुक्त कराने का श्रेय तन्त्र, आगम और पुराण को जाता है। वैदिक जन जहाँ द्विजाति लोगों के बीच ही ज्ञान की समस्त सम्भावनाओं को रोप रहे थे वहाँ उन्हीं ऋषियों से सम्बद्ध मुनि, तापस, सिद्ध और योगी जन, द्विजाति से बाहर के जन-समुदाय को भी भारतीय परम्परा में समेट कर उसे उसी प्रकार के चरम ज्ञान से जोड़ते रहे ताकि यह वेद-विद्याकुल स्वस्थता के साथ अग्रसरता की ओर बढ़ता रहे। अतः इस सन्दर्भ में वेदों की गायत्री उपासना, सूर्योपासना या अग्नि-उपासना को ही हम मुख्य रूप में त्रिक-दर्शन के सन्दर्भ में ग्रहण करेंगे। लेकिन वहाँ एक परिवर्तन परिलक्षित होता है कि वैदिकों में जो चन्द्र की उपासना कहीं प्रमुख रूप से दृष्टिगत नहीं होती उसे आगमाचार्यों ने अपने दर्शन और उपासना में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। और 'त्रिखण्ड मातृकाचक्रम्'[2] में विभाजन की दृष्टि से प्रथम खण्ड में भूलोक की पार्थिव अग्नि को, द्वितीय खण्ड में सूर्याग्नि, तृतीय खण्ड में चान्द्रमसी ज्योति को स्थान दिया यह चान्द्र ज्योति यहाँ शैवों में सोमकला के रूप में विश्वरूप शिव के शिरः-शिखर पर सुशोभित है। ऐसा लगता है कि जैसे वैदिकों की **'अग्निषोमात्मकं जगत्'**[3] वाली बात को शैवों ने ठीक से ग्रहण कर उसे अपने ढङ्ग से सुव्यवस्थित कर दर्शनोपयोगी बना लिया। यज्ञ में सोमरक्षण की प्रतीकधारा ही इस बात को प्रकट कर सकती थी कि सोम से सिञ्चित होकर या सोम पीकर जब अग्नि तृप्ति और सुख से मण्डित होकर सौम्यभाव धारण करेगी, वह क्षण-मानव-चेतना के सौम्य खण्ड में प्रवेश का होगा। जहाँ पार्थिव और आन्तरिक्षीय वह्नियाँ अपने-अपने

स्वाभाव का उत्कट धूम, ताप-ज्वलन छोड़ कर शीतल एवं नवजीवनाधायिनी शीतज्योति में रूपान्तरित होकर सर्वत्र अमृत-सञ्चार करने लगती है। लेकिन ब्रह्माण्डीय स्तर की अपेक्षा पिण्ड के स्तर पर यह साक्षात्कार अधिक सूक्ष्म और प्रक्रिया साध्य है। उस प्रक्रिया का आगमन 'आना' या प्राप्ति ही आगमशास्त्र के 'आगमत्व' और 'आप्ति' का मूल है। इसलिए शैवों और शाक्तों की कुण्डलिनी जागरण से होने वाली अमृत-क्षरण की समस्त प्रणाली ही वैदिकों के सौमाभिषव की स्थूल उपासना को पिण्ड-चेतना के सूक्ष्म स्तरों पर ले जाकर नवजीवन के साक्षात्कार का प्रयास है। क्योंकि वैसे भी वैदिक वाङ्मय में जो मानव का वर्चस्व, ओज, बल, वीर्य, बुद्धि और मेधा-प्रज्ञा सम्बन्धी उद्दाम उत्साह दिखाई देता है वह जिजीविषा के रूप में भारत की किसी भी अन्य चिन्तन प्रणाली में नहीं उतर सका। क्योंकि उन सभी पर वैचारिकता, उदासीनता, ताटस्थ्य, माध्यस्थ्यता का बोझ इतना अधिक बढ़ा कि वे उस वैदिक मानवों की जिजीविषा को अपने-अपने दर्शन का सिद्ध लक्ष्य नहीं बना सके। आत्मा की खोज ने ही उन्हें जिजीविषा के प्रति तटस्थ सा बना दिया।

किन्तु शैवों ने सर्वत्र अपनी तन्त्रोपासना में वैदिकों की वाक्-सम्बन्धी कल्पनाओं को पूरा महत्त्व दिया। और सोमकला का वाक् से सम्बन्ध रखते हुए अपनी उपासना में प्रयुक्त पञ्चदशाक्षरी आदि मन्त्र-विद्याओं में सर्वप्रथम स्थान वाग्भव-कूट को या वाक्-कूट को ही दिया। वैदिकों ने भी तो आत्मा को सर्वप्रथम वाङ्मय ही माना था—**'अयम् आत्मा वाङ्मयः मनोमयः प्राणमयः।'**[4] इतना ही नहीं, वैदिक वाक्-सम्बन्धी अवधारणा के अतिरिक्त गायत्री-उपासना को शिव-दर्शन में पर्याप्त महत्त्व मिला है। काश्मीर के भट्ट नारायण उन्मुक्त रूप से गायत्री को शिव से जोड़ते हैं।[5] और वेद को शिव की आज्ञा रूप वाक् मानते हैं।[6] इस पर टीका करते हुए क्षेमराज लिखते हैं—"यस्य महेशितुः बोधादित्यस्यसम्बन्धि तेजो वरेण्यं ज्योतिः वाक्शक्ति रूपया गायत्र्या वेदमात्रा धियां सर्वप्रमातृमतीनां चोदकं तत्कर्तव्याध्यवसायग्राहकं गीयते।"[7]

शाक्त दर्शन के सुविख्यात आचार्य भास्कर राय भी शाक्तों के पञ्चदशी मन्त्र के १५ अर्थों के व्याख्यान के अवसर पर सर्वप्रथम गायत्री के पूर्ण अर्थ का व्याख्यान—"अथातः पूर्णगायत्र्याः प्रतिपाद्योऽर्थ आदिमः"[8] कहकर फिर आगे अन्य अर्थों में प्रवेश की अनुमति देते हैं। इतना ही नहीं, वे तो समस्त आगम और तन्त्र-शा को ही वैदिक मानते हैं। और सौन्दर्य लहरी के प्रसिद्ध व्याख्याकार लक्ष्मीधर की इस टिप्पणी कि—"चौंसठ तन्त्र जो हैं सो अवैदिक हैं" पर तीक्ष्ण कटाक्ष करके कहते हैं—"एतानि महामायादि विशुद्धेश्वरान्तानि चतुःषष्टिस्तन्त्राणि वेदरूपाणि। तन्त्राणा...मुपनिषच्छेषत्वात्।"[9]

शैवों की प्रकाश-विमर्श उपासना और गायत्री-विज्ञान

भारतीय विद्या विशेषज्ञों को यह पता ही है कि गायत्री एक ऐसा शब्द है जो वेद-विद्या और ब्रह्म-विद्या में बहुत ही प्रामाणिक माना जाता है। ऋग्वेद काल में ही गायत्री का माहात्म्य कट हो गया था और ऋषि

लोग यज्ञ में प्रधानभाव से 'शक्वरियों या ऋचाओं में गायत्र का ही गान करते थे।'[10] यह 'गायत्र' क्या कोई साम-सम्बन्धी विशिष्ट अवधारणा थी जो सम्पूर्ण वैदिक मन पर छाई रही? श्रीकृष्ण ने गीता में **'वेदानां सामवेदोऽस्मि'**[11] और साथ ही **'गायत्री छन्दसामहम्'**[12] कहकर अर्जुन को बोधित किया था कि वेदों में नादप्रधान सामवेद मैं ही हूँ। क्योंकि नाद की स्थिति शब्द-ब्रह्म से ही ऊपर है। छन्दों में गायत्री का भी क्या गायन से ही सम्बन्ध रहा, यह विचारणीय है। क्या गायत्री छन्दोबद्ध या संख्याबद्ध वर्ण-विन्यास से ऊपर कोई संगीतात्मक नादात्मकता थी जो मन्त्र में एक साथ ही पद से पदार्थ और पदार्थ से तत्त्वातीत चतुर्थपाद में नादातीत चिच्छक्ति के साथ मिलाने की विद्या थी। 'गायन्तं त्रायते' वाले अधिवेदता का प्रथम आविर्भाव प्रथम सूर्योदय के साथ ऋग्वेदीय भावना को लेकर है। दूसरा आविर्भाव मध्याह्न सूर्य के साथ और तीसरा सांयकालीन सूर्य के साथ। लेकिन यह त्रिपदा, गायत्री है। इस का अलक्ष्यपाद या तुरीय पद तो वह है जो रात्रि के अन्धेरों में भी कहीं व्यक्त कहीं अव्यक्त रूप में रह जाता है।[13] सम्भवत: आगम शास्त्र में 'अर्धमात्रा' शब्द के प्रयोग द्वारा सङ्केत उसी ओर हो। और फिर गायत्री के ही एक अजपा रूप का उल्लेख करते हुए कहते हैं—**अजपा नाम गायत्री योगिनो मोक्षदायिनी।**[14]

इस प्रकार लगता है कि गायत्री का जब ब्रह्म-विद्या के रूप में विकास हुआ तब प्रकाशोपासना का सूर्य के साथ और नादोपासना का मन्त्र काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दनों के साथ सम्बन्ध जुड़ चुका था। काश्मीर के शैव ब्राह्मण गायत्री के इस उज्ज्वलतम रूप से जीवन में जाने-अनजाने रूप में जुड़े हुए तो थे ही। क्योंकि हिमालय के जिन शिखरों पर उनका वास था वे शिखर ही भास्वान् सूर्य या काश्यप सूर्य के नित्योदय के प्रथम स्थल थे, जहाँ चतुर्दिक् प्रकाश फैल कर केवल प्रकाश ही नहीं अपितु सुषमा-सम्पन्न काश्मीर की धरती के निकट आते ही विमर्शमय हो उठता था। अत: काश्मीर शैवशास्त्र ने जिस शिव और शक्ति का साक्षात्कार किया वह अन्तश्चेतना में उतरा हुआ सूर्य का अनिन्द्य, अकलुष वह प्रकाश था जिसमें विभिन्न रङ्गों में उदित लालिमा का, विमर्श या चित्त की रागात्मकता का अकलुषित भावमय या वृत्तिमय प्रसार था। इसलिए पुण्यानन्दनाथ ने महेश को 'प्रकाशमात्र तनु:'[15] कहकर शक्ति को 'शिवरूप विमर्श निर्मलादर्श:'[16] कहा है अर्थात् उस प्रकाश को निर्मल दर्पण की भाँति नाना रङ्गों की फुहारों में बदल देने वाला विमर्श कहा है। इसलिए निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शैवों के इस प्रकाश-विमर्श वाली सारी दार्शनिक रचना के मूल में वैदिकी सूर्योपासना के विविध आयाम अथवा गायत्री जो कि सावित्रीरूपा भगवान्-रूप गगनलिङ्ग की योनि या भर्ग है, उन्हीं की लीला को शैवों ने शिवक्रम में और शाक्तों ने शाक्त क्रम में उतारा है। पृथ्वी के सामान्य जो लोक-देवता या आदिम लोक-देवियाँ हैं जो इस प्रकाशोपासना की आर्द्रता को अपने साथ नहीं ले सके वे चाहे शैव हों, शाक्त हों या वैष्णव, वे दर्शन-विद्या के पद पर या आसन पर आरूढ़ होने के अधिकारी नहीं हो सके। अत: वेद-विद्या के स्पर्श से आगम का और आगम के आलिङ्गन से वेदविद्या का मण्डल ही राष्ट्र की कल्पना को जन्म दे सका। अत: प्राचीन भारत की सभी लौकिक विचारधाराएँ जो गगनलिङ्ग सूर्य के प्रकाश में दीक्षित हैं वे ही दर्शन बन सकी हैं **'अन्यास्तु गणिका इव'**।

वस्तुत: तन्त्रशास्त्र या आगमशास्त्र का लक्ष्य यही रहा है कि मानव मात्र की इच्छा, ज्ञान और शक्तियों को पहचान कर उन्हें समूचे तौर पर व्यावहारिक जीवन में अपने दैनन्दिन क्रिया-कलाप में प्रयोग से प्रत्य रूप में देख लिया जाए। साधना या परीक्षणों के द्वारा उपार्जित शक्तियों के विभिन्न रूपों के तारतम्य को देख कर उनका लोकहित में प्रयोग किया जाए। वैदिक तन्त्र इस बात को स्पष्ट करते हुए कहता है कि ब्राह्मण को चाहिए वह नियतात्मा और तपोयुक्त होकर भूतों पर अनुकम्पा की दृष्टि रखते हुए सिद्धि को प्राप्त करे।[17] अत: तन्त्र यदि किन्हीं परा और अपरा शक्तियों के रहस्य को समझने का प्रयास है तो वैदिक ऋषियों द्वारा वेदों में प्रस्फुटित ऋचाएँ या मन्त्र उन्हीं शक्तियों की प्रकट शब्द मूर्तियाँ हैं जिनके मूल में कोई-न-कोई अलौकिक आर्ष प्रतिभा है। उस शब्द मूर्ति की स्वाध्याय या तप की विधि के द्वारा भावना करके वैसे ही फल प्राप्त किया जा सकता है। वैदिक तन्त्र इस विषय में गायत्री उपासना या सावित्री उपासना के बारे में वैसे ही विधि और अर्थवादों का वर्णन करते हैं जैसे कि अन्य शाक्त या शैवागम प्रमाण के लिए ईसा पूर्व के कुछ वैदिक विधान एवं अर्थविधान आदि वैदिक मन्त्रशास्त्र को लेकर लिखा गया ब्राह्मण ग्रन्थ भाग इतना बड़ा साहित्य है जिसे पूर्णत: वैदिक-तन्त्र कहा जा सकता है। इस 'विधान साहित्य' की चर्चा करते हुए श्री एम.एस. भट्ट कहते हैं कि विधान शब्द दों अर्थों में प्रयुक्त हुआ—'prescription' या 'sorcery practice' अर्थात् विधि या तकनीक अथवा जादुई या आभिचारिक क्रियाओं के रूप में।[18]

अत: यह बात निर्विरोध रूप से कही जा सकती है कि इन विधान-ग्रन्थों में मन्त्र और आगम के वे सभी रूप उपलब्ध हैं जिनमें मन्त्र शक्ति आदि के विनियोग के द्वारा इष्टफल को प्राप्त करने या विज्ञान रचना करने अथवा परम सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करने की मुक्त रूप से चर्चा हुई है। परम शिव से लेकर पृथिवी तत्त्व की छोटी से छोटी इकाई एक सत्ता के नाना रूपों के प्रसार-प्रचार विधि एवं प्रयोग का वर्णन इसका द्योतक है कि तन्त्र या आगम किसी भी स्तर पर अवैदिक नहीं है। वैदिक तन्त्र का सर्वोच्च रूप उपनिषदों की ब्रह्म-विद्या के रूप में विकसित हुआ। ब्रह्मानुभूति को भी प्रेषित करने की स्थिति में आर्ष लोगों को किन्हीं सात्त्विक विधियों को अपनाना पड़ा है। वे सभी विधियाँ वैदिक दर्शन की जन्मभूमि बनी हैं। केवल कुछ बाहरी प्रकार के भेदों के बल पर शैव, शाक्त, वैष्णव आगमों को अवैदिक कह देना उन विद्वानों को गहन और निष्पक्ष बोध के ज्ञाता होने से रोक देता है। इसलिए सार रूप में इसी बात का निगमागम मर्मज्ञ श्री गोपीनाथ कविराज के शब्दों में इस प्रकार दे रहा हूँ कि—"वेद और तन्त्र शब्दात्मक होते हुए भी वास्तव में ये दोनों ज्ञान के प्रकार भेद ही हैं।...वेद की तरह तन्त्र क्रम भी बोधात्मक और वागात्मक है।"[19] तन्त्र की अवैदिकेतरता पर वे पुनश्च कहते हैं कि—"तान्त्रिक धारा की भी बहुतेरी दिशाएँ हैं। उनमें से एक धारा वैदिकधारा के अनुकूल थी। भावी गवेषकों द्वारा गम्भीर तुलनात्मक आलोचना होने पर यह समझ में आएगा कि वैदिक धारा का उपासना-क्रम अधिकांश में तत्त्वत: तान्त्रिक धारा के साथ एक सूत्र में गूँथा हुआ है, और बहुत-से तान्त्रिक विषय बहुत प्राचीनकाल से ही परम्परा-क्रम से चले आ रहे हैं। मेरा विश्वास है कि

उपनिषद् आदि में जिन गुप्त विद्याओं का परिचय मिलता है, जैसे—संवर्ग, उद्गीथ, उपकोसल, भूमा, दहर आदि—ये सब इसी के अन्तर्गत हैं। मेरा विश्वास है, वेद के रहस्य अंश में भी इस सारी रहस्य विद्याओं का परिचय मिलता है। यदि इन सब रहस्य विद्याओं का किसी दिन तत्त्व-निर्णय हो, तो यह बात समझ आएगी कि मूलभूत वैदिक और तान्त्रिक या आगमिक ज्ञान में विशेष भेद नहीं है।"[20]

सन्दर्भ

1. '*रिलिजनस् ऑफ इण्डिया*', पृ. ७-१२; लेखक — थॉमस बेरी, प्रकाशक दी ब्रूस पब्लिशिंग कं., न्यूयॉर्क, १९७१.
2. 'सोमसूर्यानलात्मकम्' — *कामकलाविलास*, पद्य ३४ पर *चिद्वल्ली* टीका।
3. *बृहदारण्यकोपनिषद्*, १.४.५.
4. वही, १.५.३.
5. *स्तव-चिन्तामणि*, श्लोक ७७.
6. गायत्र्या गीयते यस्य धियां तेजः प्रचोदकम्।
   चोदयेदपि कच्चिन्नः स धियः सत्पथे प्रभुः।। — वही, श्लोक ६९.
7. वही, पृ. ८६-८७.
8. *वरिवस्यारहस्य*, पृ. ३६.
9. *सेतुबन्ध*, विश्राम-१, पृ. २४.
10. गायत्रं त्वो गायतिशक्वरीषु — ऋग्वेद, ६.२.२४.
11. *श्रीमद्भगवद्गीता*, १०-२२.
12. वही, १०-३५.
13. नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे — *बृहदारण्यकोपनिषद्*, ५.१४.७.
14. *शारदातिलक*, पटल १४ में विशेष देखें।
15. *कामकलाविलास*, श्लोक-१.
16. वही, श्लोक-२.
17. *Vedic Tantrism*
18. वही, पृ. १५.
19. *तान्त्रिकसाधना और सिद्धान्त*, पृ. २-३.
20. वही, पृ. १४.

सनातन धर्म कॉलेज,
अम्बाला कैण्ट,
हरियाणा- १३३००९

❑

तन्त्रागमीय नीतितत्त्व का स्वरूप

डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

नीति शब्द (नीञ्प्रापणे) धातु से 'अधिकरण' अथवा 'करण' इस अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय जोड़कर व्युत्पन्न होता है, नी का अर्थ है 'ले जाना' मनुष्य को सत्य दिशा की ओर ले जाना ही नीति का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है। 'नयनान्नीतिरुच्यते' नयन व्यापार करता है—दुष्प्रवृत्तियों से सद्प्रवृत्तियों की ओर, व्यक्ति से लोकमङ्गल की ओर। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसमें या जिसके द्वारा ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण के साधक उपायों का ज्ञान होता है, उसे 'नीति' कहते हैं। नीति वचन धर्म वचन नहीं है, वे आदेश नहीं देते, सङ्केत प्रस्तुत करते हैं। नीति-वाक्य का लक्ष्य अध्येता के मन में स्फुरण उत्पन्न करके विचार के लिए प्रेरित करना है। धर्म आदेश देता है, नीति संदेश देती है। इतना अवश्य है कि सुविचारित नीति-वचन उत्थान या उन्नयन की ओर ही सङ्केत करते हैं, अध:पतन की ओर नहीं। इसलिए उनमें उपदेश की गन्ध आने लगती है और वे धर्म के निकट पहुँच जाते हैं।

तन्त्रागम में नीति के स्वरूप पर विचार करने की पृष्ठभूमि के रूप में आगम-तन्त्र के कुछ प्रमुख पक्षों पर विचार कर लेना उपादेय होगा। भारतीय संस्कृति निगमागममूलक है। उस संस्कृति का आधार जिस तरह निगम है, उसी तरह आगम भी।[1] सारस्वत सुरसरिता के संवाहक महर्षि व्यास का उद्घोष है—**श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च शेते जरामृत्युभयाद्धीत:**[2] श्रुति में निर्दिष्ट प्रमाण तथा आगम वाङ्मय में प्रतिपादित मङ्गलमय विधान का पालन कर मनुष्य जरा-मृत्यु से निश्चिन्त हो जाता है।

तन्त्र वाङ्मय के विश्वकोष में आचार्य अभिनवगुप्त ने आगम को इस प्रकार परिभाषित किया है—

इह तावत्समस्तोऽयं व्यवहार: पुरातन:।
प्रसिद्धिमनुसन्धाय सैव चागम उच्यते।।[3]

उपर्युक्त कथन से यह सुस्पष्ट है कि समस्त व्यवहार की समस्तकारणभूत पुरातनी-प्रसिद्धि-परम्परा आगम में अन्तर्निहित है। वेद से लेकर चार्वाक तक, तन्त्र की सभी परम्पराओं को इस परिधि में समाहित किया गया है। जयन्त भट्ट ने भी आगमडम्बर में आगम शब्द का प्रयोग इसी व्यापक दृष्टि से अपनाया है।[4]

त्रिपुरारहस्य में आगम को बड़े व्यापक पैमाने पर प्रस्तुत किया गया है। यहाँ समग्र शब्दराशि को आगम के रूप में रखा गया है—

वेदो ह्यागमभाग: स्यात् शब्दराशिस्तथागम:।
सारसङ्ग्रहरूपात्मतन्त्रामृतमनुत्तमम्।।
देशभेदविभेदेन पृथगेवं विभावितम्।।[5]

वेद आगम का ही अंश हैं तथा आगम से ही तन्त्र की प्रवृत्ति हुई है। पाञ्चरात्रागम के *पुरुषोत्तमसंहिता* में तन्त्र की अधोलिखित परिभाषा दी गई है—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमाश्रितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मा मित्यमभिधीयते।।[6]

तन्त्रागमशास्त्र को प्रमुख रूप से १. ज्ञान, २. योग, ३. क्रिया तथा ४. चर्या—इन चार विषयों में विभाजित किया गया है। ज्ञान और योग की अपेक्षा क्रिया तथा चर्या विषयों का विशेष विवेचन यहाँ अधिक प्राप्त होते हैं। आगमशा के शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य, सौर तथा बौद्धाद्धि विविभ भेद-प्रभेद भी हैं।

यह देश आर्यों का आदिदेश है। इसने विश्व को आर्य-दृष्टि दी है। इसने विश्व को उनकी सभ्यता और संस्कृति की दीक्षा दी। नीति विषयक अवधारणाओं का विवेचन वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, नीति-ग्रन्थों तथा धर्मसूत्रों आदि में किया गया है। यह नीति-विचार वचनात् निवृत्ति अर्थात् धर्मशास्त्रों ने मान्य कहा तो करना, अन्यथा नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में स्वयं को **'नीतिरस्मि जिगीषताम्'** कहा है।[7] आचार्यों ने नैतिकता के निरूपण में आचार को प्रमुखता देकर कहा—**आचारप्रभवो धर्म:।** महाभारत में वेदव्यास ने भी यही माना है—**सर्वागमनामाचार: प्रथमं परिकल्पते।** महर्षि व्यास का कथन है—

आगमानां हि सर्वेषामाचार: श्रेष्ठ उच्यते।
आचार प्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्धते।।[8]

अर्थात् सम्पूर्ण आगमों में सदाचार ही श्रेष्ठ बतलाया जाता है। सदाचार से ही धर्म की उत्पत्ति होती है और धर्म से आयु की वृद्धि होती है।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार सदाचार युक्त परमात्म तत्त्व के निरूपक होने और दिव्यगति देने के कारण ही इसके 'आगम' नाम की चरितार्थता है—

आचारकथनाद्दिव्यगतिप्राप्तिविधानत:।
महात्मतत्त्वकथनादागम: कथित: प्रिये।।[9]

उसी साधक को श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है, जिसकी श्रेष्ठता परान्न से दूषित नहीं, हाथ दूसरे की वस्तु के ग्रहण करने से कलङ्कित नहीं तथा मन पर-स्त्री के दर्शन से क्षुब्ध नहीं होते हैं, ऐसा सात्त्विक साधक ही सिद्धि प्राप्त करता है, दूसरा नहीं—

जिह्वा दग्धा परान्नेन करौ दग्धौ प्रतिग्रहात्।
मनो दग्धं परस्त्रीभिः कथं सिद्धिर्वरानने।।[10]

अतः सिद्धि चाहने वालों को सदाचार के इन नियमों का पालन सावधान होकर करना चाहिए।

विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये[11] यह *महानिर्वाणतन्त्र* का वाक्य है। सत्य धर्माचरण का उदात्त स्वरूप इसी तन्त्र में उल्लिखित है। सत्य-विहीन मानस की साधना, उपासना व्यर्थ है। सत्य का आश्रय ही सुकृतों का आश्रय है—'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए'।[12] सत्य धर्म का आश्रय लेने वाले कर्म सौन्दर्य के उपासक को सिद्धियाँ अनायास वरण कर लेती हैं। सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है तथा असत्य से श्रेष्ठ कोई पाप नहीं है। एतदर्थ अनित्य, असुख दुःखालय संसार में आये हुए मानव को सत्य कल्पतरु का ही सयत्न सतत सेवन करना उसकी। सत्यहीन का जप-तप-आराधना उसी प्रकार व्यर्थ जाता है, जिस प्रकार ऊसर भूमि में बीज का वपन।[13]

तन्त्रागम शास्त्र में गुरु के बिना अध्यात्म तथा साधना राज्य में प्रवेश ही नहीं किया जा सकता। साधना प्रणाली, इष्ट प्राप्ति तथा योग सिद्धि के लिए गुरु ही सर्व-सामर्थ्यवान् सिद्ध पुरुष है। गुरु-लक्षण,[14] शिक्ष्य-लक्षण,[15] दीक्षा-विधि का विशद विवेचन किया गया है। दीक्षा में समस्त वर्णों को अधिकार प्रदान करना तन्त्रशास्त्र की अद्भुत देन है—

दीक्षयेन्मेदिनीं सर्वां किं पुनश्चोपसर्पितान्।।[16]

दीक्षा में शिष्य की आत्मा के साथ अभिन्न होकर शिष्य रूप चैतन्य की योगभूमि को सम्पूर्ण रूप से एक विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा (षडध्व-शोधन) किया जाता है—यह प्रभावात्मक कृत्यु गुरु द्वारा सम्पादित होता है। तत्पश्चात् ज्ञानदीक्षा द्वारा चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान, कलाओं द्वारा और क्रिया शक्तियों का शिष्य में उद्भावन या यों कहें कि शिष्य के पाशों (बन्धनों) का नाश तथा शिवत्व का समायोजन शिष्य में जो मलिनता है उसका प्रक्षालन कर उसे शिव-स्वरूप में युक्त करना गुरु का मुख्य कार्य है। शक्तिपात अनुग्रह से युक्त शिष्य प्रत्यभिज्ञा को प्राप्त कर लेता है।

दीक्षा कृत्य में गुरु की साधना तथा मन्त्र शक्ति ही प्रधान है। गुरु भावना सिद्ध होते हैं। गुरुमुख से सुना हुआ मन्त्र ही सिद्ध होता है। पुस्तक में लिखी विद्या मनुष्य को सिद्धि नहीं प्रदान करती है। तन्त्रशास्त्र में बिना गुरु उपदेश के किसी प्रकार के कार्य का अधिकार नहीं है—

पुस्तके लिखित विद्या नैव सिद्धिप्रदा नृणाम्।
गुरुं विनापि शास्त्रेऽस्मिन् नाधिकारः कथञ्चन।।

सङ्कर्षणसंहिता में यह उल्लिखित है कि मन्त्रों की सफलता सदाचारमय जीवन पर अवलम्बित है। निषिद्धाचरण से मन्त्रों के फलाभाव प्रतिपादित हैं।[17]

तन्त्रागमशास्त्र का अन्तिम भाग चर्यापाद के नाम से विहित है। चर्यापाद में आचरण सम्बन्धी सभी पक्षों पर गम्भीर गवेषणा की गई है। पाञ्चरात्रागम में पञ्चकाल (अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योग) इन पाँच विषयों की विस्तृत मीमांसा की गई है। अतएव दीक्षा के क्रम में गुरु के द्वारा शिष्य के लिए पञ्चकाल-विधि के उपदेश का निश्चित विधान किया गया है।[18] पञ्चकाल विधि के ज्ञान से जन्तु जन्म-संसार बन्धन से विमुक्त हो जाता है। *श्रीपाञ्चरात्ररक्षा* में श्रीवेदान्तदेशिक ने पञ्चकाल विधान का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया है।[19] प्रसिद्ध तान्त्रिक श्री भास्कर राय भारतीय दीक्षित ने भी अपने ग्रन्थ *तृचभास्कर* जो सूर्यतन्त्र की सर्वमान्य कृति है, में पाञ्चरात्रागम को उद्धृत करके उपर्युक्त पाँचों प्रकारों के अधोलिखित लक्षण दिये हैं—

देवतायतनं गत्वा तत्संमार्ज्योपलिप्य च।
निर्माल्यादिकमुद्धार्य तच्चाभिगमनं मतम्।।
उपादानं तु गन्धादियावत्साधनसङ्ग्रहः।
इज्या तु पीठपूजादिसाङ्गावरणपूजनम्।।
स्वाध्यायोऽर्थानुसन्धानं स्तोत्रपाठो मनोर्जपः।
स्वस्य देवतायास्तस्या स्वेन वाऽभेदचिन्तनम्।
योगं इत्युच्यते सद्भिरित्थं पूजा तु पञ्चधा।।[20]

देवता के साथ अभेद चिन्तन ही योग है और इसे ही तन्त्रों में अन्तर्याग की संज्ञा दी गई है।

नैतिक मूल्य श्रेयस और कर्त्तव्यपरायणता से औचित्य-अनौचित्य का निर्णय कर, आत्मिक मूल्य बन जाते हैं—स्थायी और सनातन। जैविक मूल्य क्षणिक सुख की ऐषणा से सार्वभौम नहीं बनते वरन् भोग प्रवृत्ति के हेतु बनते हैं। इसी से भारतीय नैतिकता त्याग पर बल देती रही है। शान्तिपर्व में त्याग की महिमा बताते हुए कहा गया है कि 'त्याग ही परमार्थ का साधन है।' मानसिक व आत्मिक सुख के लिए शारीरिक सुख एवं सामाजिक मङ्गल के लिए व्यक्तिगत सुख का त्याग अभीष्ट है। यही नैतिक विधान है। आचरण की श्रेष्ठता, कर्त्तव्य पालन, चारित्रिक उत्कर्ष, औचित्य तथा अनौचित्य का विवेक, आत्मिक सुख की गुणात्मकता लोकमङ्गल की चेतना, व्यक्तिगत स्वार्थ का समाज के परार्थ और लोक हितार्थ त्याग, ग्रहणीय व स्वस्थ परम्परा में विश्वास और मनुष्यत्व की साधना ही भारतीय नीतिशास्त्र का सार है।

साधन तथा साध्य का सम्बन्ध भी नैतिक अवधारणाओं में महत्त्वपूर्ण है। नैतिक आचरण के लिए साध्य की उच्चता के साथ-साथ साधन का औचित्य अनिवार्य है। नीतिशास्त्र की प्रसिद्ध उक्ति है—'साध्य की प्राप्ति के लिए साधन का न्यायसङ्गत होना आवश्यक है।' यदि साधन अनैतिक है तो साध्य कभी नैतिक नहीं हो सकता है। साधन और साध्य की समरूपता अनिवार्य है। तन्त्रशास्त्र में सर्वात्म्य भाव का निरूपण बड़े शानदार शब्दों में किया गया है—

समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः।।

भूमिकानां च सर्वासामेवल्लीनां च सर्वशः।
समता सर्वदेवानां वर्णानां चैव सर्वशः।।[21]

नीतिदर्शन मानवतावादी मूल्यों से जुड़ा है। चारित्रिक उत्कर्ष, व्यक्तिगत स्वार्थ और महत्त्वाकाङ्क्षा के परित्याग, व्यापक लोकहित, आचार-विचार व्यवहार तथा कर्त्तव्यनिष्ठा, श्रेष्ठता, राष्ट्रप्रेम, आत्मोपलब्धि, सांस्कृतिक मूल्य बोध और मनुष्यत्व की सर्वोत्कृष्टता आप्त कृतियों की अन्तर्योजना ही भारतीय मनीषा है। उपकार, करुणा, संवेदना तथा पवित्रता को मानव का कर्त्तव्य प्रसाद के अनुसार जितनी अन्तःकरण की वृत्तियों का विकास सदाचार का ध्यान करके होता है, उन्हीं को जनता कर्त्तव्य का रूप देती है। सदाचार से सत्योपलब्धि सम्भव है। आधुनिक वैज्ञानिक भी नैतिक चेतना पर बल दे रहे हैं।

आगम ग्रन्थों के अनुसार श्रद्धा मूलवृत्ति है, समस्त प्रवृत्तियों का केन्द्र है। वही समस्त व्यवहारों की भी प्रतिष्ठाता है। *त्रिपुरारहस्य* के ज्ञान काण्ड में कहा गया है—

श्रद्धा हि जगतां धात्री श्रद्धा सर्वस्य जीवनम्।
अश्रद्धो मातृविषये बालो हि जीवते कथम्।।[22]

श्रद्धा प्रेममयी माता है, वह सब कुतर्कों से सुरक्षित रखती है। श्रद्धा न रखने पर लक्ष्मी, कीर्ति, सुख साथ छोड़ देते हैं।[23] *सङ्कर्षण संहिता* का कहना है—

श्रद्धया साध्यते धर्मो नान्योपायेन केनचित्।
धर्मार्थकाममोक्षाणां श्रद्धा परमसाधनम्।।[24]

त्रिकदर्शन में शिव की सिसृक्षा उसकी शक्ति है, यही मूलतः श्रद्धा है। वही शिव की आत्मिक शक्ति है। अभिनवगुप्त कहते हैं—'काम इच्छा सचिन्मात्र रूपा' सचिन्मात्र रूप इच्छा ही काम है। श्रद्धा को 'कामायनी' कहने का यही रहस्य है, 'इष्यमाणा नाना रूपिता' शुद्ध इच्छा ही श्रद्धा है। श्रद्धा से ही शिव की उपासना करनी चाहिए—

मन्त्रं यन्त्रं च तन्त्रं च श्रद्धाच्छन्दः स्वराश्च वै।
एतत् त्रितयं विज्ञानं सेतुज्ञानं समासतः।।[25]

मन्त्र, यन्त्र तथा तन्त्र जैसे तीनों का वैसे ही साथ-साथ श्रद्धा, छन्द एवं स्वर का सेतु रूप से आश्रय लेना होता है। श्रद्धा रूप सेतु के द्वारा दो वस्तुओं में एकरूपता आती है। अतएव समस्त सिद्धियों के लिए श्रद्धालु होना आवश्यक है—

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता।[26]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाञ्चरात्रागम वाङ्मय अत्यन्त समृद्ध है, साथ ही जीवन्त सम्प्रदाय भी है। *सङ्कर्षणसंहिता* सद्यः प्रकाशित पाञ्चरात्र साहित्य है। नारद भगवान् सङ्कर्षण से प्रश्न करते हें—

आगमे कः सदाचारः कतिविधः स उच्यते।
लक्षणं किं कथं प्राप्यौ वैष्णवैस्तन्निबोध मे।।[27]

इसी के उत्तर में बाह्य तथा आभ्यन्तर धर्मों का विशद विवेचन किया गया है। आभ्यन्तर धर्मों में मनोगम्य, सौम्यता, मृदुता, मैत्री, करुणा, कृतज्ञता, तितिक्षा, धैर्य, श्रद्धा, तप एवं दानादि का वर्णन सुचारु रूप से किया गया है। बाह्याचारों में भक्ति के उपकारक धर्मों का वर्णन जो चातुवर्ण्य से सम्बन्धित है, उनका सम्यक् वर्णन है।

सदाचारों में अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण, अपरिग्रह आदि का सर्वकालिकता होने पर देश भेद से विविधता संहिताओं की विशिष्टता परिलक्षित होती है। जिस देश में आचार न्यायतः सुचारू रूप से होते हुए भगवद्भक्ति में बाधक हो तो उसका त्याग करना ही भगवद्राधना में सर्वश्रेष्ठ है—ऐसा वर्णन प्राप्त होता है। कुलाचार यदि भगवद्भक्ति में बाधक न हो तो उसका त्याग नहीं करना चाहिए। ऐसा निरूपण *दैनिक आचार* प्रथम अध्याय में वर्णित है। इस रीति से इस संहिता की नीति मीमांसा दूसरे ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से विचारणीय है।[28]

बौद्ध आगम का कहना है—'मा जातिं पुच्छ चरणं च पुच्छ'—जाति मत पूछो, आचरण पूछो।[29] शील (सदाचार) की गन्ध सर्वोत्तम है।[30] युद्ध से युद्ध का अन्त करने की इच्छा पागलपन है—'न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनम्।' धर्म का प्रधान लक्षण करुणा कहा गया है—'जीवेषु करुणा चपि मैत्री तेषु विधीयताम्।'[31] सुधीजन उसे नीति नहीं कहते जिससे (अन्त में) कीर्ति, आनन्द और कल्याण की प्राप्ति नहीं होती है।[32]

जैनागम नैतिक अवधारणाओं तथा मूल्यों से परिपूर्ण है। अहिंसा को सर्वातिशायी प्रधानता जैनागम में दी गयी है। *आचाराङ्गसूत्र* मानवीय नैतिक आचार की मञ्जूषा है, इसमें अहिंसा और हिंसा का पुङ्खानुपुङ्ख विवेचन है। *सूत्रकृताङ्ग* का उद्घोष है—

एवं ख्र नानिणों सारं जनं हिंसदकश्चण।
अहिंसा समयं चैव एयावंत वियाणिया।[33]

महावीर ने सदाचार, समभाव, सह-अस्तित्व, राग-द्वेष, लोभ, माया, क्रोध से मुक्ति मार्ग बताकर नैतिक जीवन की श्रेष्ठता बताई। अध्यात्म साधना के सोपान कर्म के आस्रव, सँवर और निर्जरा पर आधृत हैं। सूत्रकृताङ्ग के अनुसार अपने पुरुषार्थ से व्यक्ति कर्म बन्धनों से मुक्त हो सकता है।

तन्त्रशास्त्र के अनुसार यह 'विश्व चिति का विराट वपु मण्डल' है। वैषम्य के मध्य समत्व का बोध ही प्रत्यभिज्ञा है—परा चैतन्य की उपलब्धि 'जहाँ चेतनता विलसती है' यही आत्मोपलब्धि है।

तन्त्रागम शास्त्र नैतिक मूल्यों का सम्यक् विवेचन करता है। आज नीति-दर्शन की मुख्य समस्याएँ हैं—

१. साधन-साध्य का सम्बन्ध व औचित्य।
२. अधिकार तथा कर्त्तव्य का सन्तुलन।
३. व्यक्ति और समाज का स्वस्थ सम्बन्ध।
४. नैतिक आचरण के आधारभूत तत्त्व।
५. नैतिक मूल्य।
६. उचित और अनुचित, औचित्य का ज्ञान।

नीति-दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त आत्मोपलब्धि (यूडियोमोजिज़्म) है, जहाँ मनुष्य राग-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व के पूर्ण सामञ्जस्य में होकर मानवीय विकास की उच्च भूमि प्राप्त करता है। तन्त्रागम में उपर्युक्त सभी पक्षों का विवेचन किया गया है। एक दृष्टि से हम तन्त्रागम को नैतिक मूल्यबोध का ग्रन्थ कह सकते हैं। आज मनुष्य का नैतिक अवरोह और पतन अधिकार लिप्सा के कारण हो रहा है—वह अधिकार चाहता है—कर्त्तव्य नहीं। सुखवाद (हिडोनिज़्म) और परार्थवाद (आलटूइज़्म) में आज व्यक्ति अपनी विकृत अहं चेतना के कारण—सुख केवल बस सुख का संग्रह चाहता है। आधुनिक विद्वानों ने इसे ही 'सर्वग्राही व्यक्ति सुखेच्छा' कहा है। इसी के कारण व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध भी जर्जर और खण्डित हो गया है। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच स्पर्धा तथा वैयक्तिक महत्त्वाकाङ्क्षा ही मुख्य है। वह साध्य को ही मुख्य मानता है, साधन को नहीं। इन्द्रिय-सुख उसके जीवन का प्रयोजन है—वह सर्वत्र अधिकार लिप्सा से ग्रस्त है। उसके औचित्य और अनौचित्य का विवेक नष्ट हो गया है। तन्त्रागमशास्त्र में मानवीय मूल्यों के प्रश्न उचित-अनुचित, सङ्गत-असङ्गत, सदाचार-दुराचार के सन्दर्भ में उठाये हैं। व्यक्ति को आत्म ज्ञान तभी होता है, जब वह अन्त में प्रकृत और शुद्ध अहम् का बोध कर पूर्ण आत्म चैतन्य को प्राप्त करता है। ऐन्द्रिय सुख से परे वह मानसिक सन्तोष और आत्मिक आनन्द की 'मधुमती भूमिका' पर पहुँचता है, जो नीतिशास्त्र की शब्दावली में—'जीवन का पूर्णतम और सुव्यवस्थित और सद्भावपूर्ण विश्वबन्धुत्व का विकास है।' अभिनवगुप्त का उद्घोष है—'एक एव आत्मा ग्राह्यग्राहकतया नानारूपस्वभावः सन्, पुनरपि सर्वानुभवितृतया सर्वस्य एकतया प्रथते—इति न काचिदद्वयवादक्षतिः।'[34]

परार्थरहित जीवन से मृत्यु अच्छी है, जिससे परोपकार होता है वही वास्तव में जीवन है और उसका मूल्य—'परम्परोपकारार्थयो जीवति स जीवति'। गौतम बुद्ध, महावीर तथा गाँधी की यही घोषणा थी। भौगोलिक विस्तारवाद युद्ध कराता है पर आत्मिक विस्तारवाद प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित करता है। यही पूर्ण आत्मतुष्टि है। 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' ही नीति है।

तान्त्रिक नीति दर्शन के अनुसार सुख का केन्द्र आन्तरिक श्रेष्ठता, उदारता और आत्म-निग्रह में है। उसके अनुसार **'तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः'**[35] अर्थात् मनुष्य हृदय ही तीर्थ स्थल है, उसकी

शुचिता ही तीर्थ है। यही कारण है कि मनुष्यत्व की पूर्णता सद्गुणों के विकास, शुचिता, समन्वय तथा सहिष्णुता में है क्योंकि देह ही देवालय है और जीव ही शिव है। वह पिण्ड और ब्रह्माण्ड को व्यक्ति और विराट् विश्व को चर-अचर सभी प्राणी को समभाव से देखती है।

नैतिक जीवन ही परमत सत्ता का सिंहद्वार है, समष्टि कल्याण ही व्यष्टि का कल्याण है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।[36]

सङ्क्षेप में यही तन्त्रागमीय नीति तत्त्व है। वेदमाता की वाणी 'ऋजुनो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्' अर्थात् मित्र वरुण हमें कुटिल रहित नीति का सुफल दें।

'सर्वो ममायं विभवः' की अनुभूति ही भारतीय नीति प्रज्ञा का सार है।

सन्दर्भ

1. *भारतीय दर्शन* — आचार्य बलदेव उपाध्याय, सन् १९७१, पृ. ४३२
2. *महाभारत*, शान्तिपर्व, २१९/४६
3. *तन्त्रालोक*, ३५/१-२
4. क. *आगमडम्बरम्*, ४/९८
   ख. *न्यायमञ्जरी*, प्रथम भाग, पृ. २४८
5. *भारतीयतन्त्रशास्त्र* — सं. पं. ब्रजबल्लभ द्विवेदी, केन्द्रीय तिब्बतिशोध संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, १९९५, पृ. ५५८
6. *पुरुषोत्तमसंहिता*, १/१६-१७
7. *गीता*, १०/३८ ए
8. *अनुशासनपर्व*, १०४/१५५
9. *कुलार्णवतन्त्र*, १७/३४
10. *श्रीपुरुषोत्तमसंहिता*, १/१६-१७
11. *महानिर्वाणतन्त्र*, २/७
12. *रामचरितमानस*, २/२७/६
13. सत्यधर्म समाश्रित्य यत्कर्म कुरुते नरः। तदेव सफलं कर्म सत्यं जानीहि सुव्रते।।
    न हि सत्यात्परो धर्मो न पापमनृतात्परम्। तस्मात्सर्वात्मिनामर्त्यः सत्यमेकं समाश्रयेत्।।
    सत्यहीना वृथा पूजा सत्यहीनो वृथा जपः। सत्यहीनं तपो व्यर्थमूषरे वपनं यथा।।
    — *महानिर्वातन्त्र*, ४/७४-७६
14. क. *लक्ष्मीतन्त्र*, २१/३०-३६
    ख. *अहिर्बुध्न्यसंहिता*, २०/२-७

15. *लक्ष्मीतन्त्र*, २१/२७-४१
16. *जयाख्यसंहिता*, १६/१०
17. *कुलार्णवतन्त्र*, १५/२२
    सङ्कर्षणसंहिता, आचाररात्रम, १/६-१११, पृ. ७
18. *पाञ्चरात्ररक्षा* — सम्पा. अनु. पं. चक्रपाणि त्रिवेदी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, २०१३ ई.
19. *तृचभास्कर*. — सम्पादक, श्री आर.जी. साठे, ओरियेण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९८२, पृ. २४
20.
21. *महार्थमञ्जरी*, परिमल, पृ. १६८
22. *त्रिपुरारहस्य*, ज्ञानखण्ड, ७/२५
23. आप्तेव श्रद्धितं मूढजहाति श्रीः सुखंयतः।
    स भवेत सर्वथा हीना यः श्रद्धारहितो नरः।। — *त्रिपुरारहस्य*, ज्ञानखण्ड, ६/२४
24. *सङ्कर्षण संहिता*, आचारात्रम्, १/२४ — सम्पा. पं. ब्रजवल्लभ द्विवेदी, स्वामी नारायण अक्षरपीठ, अहमदाबाद, २००४ ई.
25. *जपसूत्रोपक्रमणी*, १७
26. *दुर्गासप्तशती*, अध्याय ५
27. तत्रैव, १/१२
28. तत्रैव, १/१३-९५
29. *सुत्तनिपात*, ३४/८
30. शीलगन्धोऽनुत्तरः — *धम्मपद*, ८५
31. *बुद्ध चरित*, २३/५३
32. न तत्सुनीतं हि वदन्ति तज्ज्ञा यन्नानुबध्नन्ति यशः सुखार्थाः। — *जातकमाला*, ३१/५५
33. जमिणं जगई पुढो जगा कम्मेहि लुप्यन्ति पाणिणो।
    सयमेव कडेहि गाहई, नो तस्स मुच्चज्जऽपु द्वयम्।। — *सूत्रकृताङ्ग*, १/२/१९४
34. *परमार्थसार विवृत्ति*, पृ. २३-२४
35. *महाभारत*, शान्तिपर्व, १९१/१८
36. *गीता*, १२/१३-१४

सहायक आचार्य, धर्मागम विभाग,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी-५

❑

देवी सरस्वती : वेदकाल की नदी से विद्या की देवी तक

म.म .देवर्षि कलानाथ शास्त्री

विद्याओं और कलाओं की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती भारतीय संस्कृति को सहस्राब्दियों से किस-किस रूप में प्रेरित करती रही है इसका इतिहास जितना विशाल है उतना ही रोमाञ्चकारी भी। देवी सरस्वती के हाथ में वीणा भी है, पुस्तक भी। वे कलाओं की अधिष्ठात्री भी हैं, विद्याओं की भी। उनकी यह अवधारणा अनेक शताब्दियों से चली आ रही है। इससे पूर्व वे वाग् देवी थीं, ज्ञान, विद्या और वाणी की देवी। आम्भृणी वाक् के सूक्त जो वेदों में मिलते हैं वे उन्हें वाक् या शब्द, ज्ञान या अर्थ की अधिष्ठात्री बतलाते हुए सृष्टि के उद्विकास और शब्द स्फोट के साथ जुड़ी, देवों की देवी के रूप में स्थापित करते हैं किन्तु इससे भी पूर्व ऋग्वेद के काल में सरस्वती की पहचान एक ऐसी पीयूषवाहिनी, ऊर्जस्वल महानदी के रूप में पाई जाती है जिसने सदियों तक सारे भारत को न केवल जीवन दान दिया था, धन-धान्य की समृद्धि से लहलहा दिया था बल्कि ज्ञान, विज्ञान, अनुसन्धान, शोध, अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन आदि की सारस्वत साधक के साथ यज्ञ-याग आदि के धार्मिक अनुष्ठानों में भी पोषण दिया था। सदियों तक इसी नदी के किनारे भारतीय ऋषियों ने ज्ञान साधना की थी। उसे बल और बुद्धि की देवी भी कहा जाता था, धान्य समृद्धि की देवी भी। आज भी उसकी स्तुति के मन्त्र सुविदित हैं।

प्र णो देवी सरस्वती। वाजेभिर्वाजिनीवती। धीनामवित्र्यवतु।। (*ऋक्.* ६/६१/४)

ऋग्वेद कहता है कि सरस्वती नदी एक ऐसी देवी है जो धान्य बल से हमें ऊर्जस्वी बनाती है, तभी तो वह बुद्धि की देवी है—'धीनाम् अवित्री' है।

महानदी

इस सरस्वती को नदीतमा, महानदी, महादेवी आदि सम्बोधनों से अलङ्कृत करते हुए वेद के ऋषि ने इसका जो महिमा-गान किया है उससे शोध-विद्वानों का यह निष्कर्ष निकला है कि वेदकाल में गङ्गा आदि से भी पहले सरस्वती को इस देश की प्राणदात्री, अमर जल स्रोतस्विनी महादेवी के रूप में पूजा जाता था। अनेक भौगोलिक कारणों से उसके प्रवाह में परिवर्तन आना कालान्तर में उसका प्रवाह सूख गया, तभी तो उसे 'अन्तःसलिला' कहा गया, यह माना गया है कि एक स्थान पर आकर वह अन्तर्हित हो गई है, उस स्थान को 'विनशन' कहा जाने लगा। अन्तःसलिला सरस्वती की अवधारणा, गङ्गा, यमुना और सरस्वती की त्रिवेणी में से एक सरस्वती का अन्तर्धान—ये सब गाथाएँ पौराणिक कथाओं के रूप में आज भी सुविदित हैं जो इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं कि वेदकाल की यह महानदी सबसे पुरानी भारतीय जलनिधि थी जो

कालान्तर में तिरोहित हो गई। अब तो नये अनुसन्धानों और अध्ययनों के आधार पर इस नदी का समूचा इतिहास खोजा जा चुका है, इस पर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हैं, इसे प्राचीनतम नदी के रूप में भारत के सांस्कृतिक इतिहास की प्रणेत्री मानकर प्राचीन इतिहास को (जिसे पहले सिन्धु घाटी का काल कहा जाता था) सारस्वत सभ्यता काल या सिन्धु-सरस्वती काल कहा जाने लगा है।

विद्वानों की यह मान्यता है कि यही नदीतमा देवी सरस्वती कालान्तर में विद्या की देवी के रूप में पूजी जाने लगी, मानवीकरण की प्रक्रिया के चलते उसे ब्रह्मा की अर्धाङ्गिनी या पुत्री माना गया, हंसवाहना विद्या की देवी भी वह बन गई, वीणा पाणि हो कर कला की देवी भी क्योंकि मूलत: उसी के किनारे समस्त गुरुकुल चलते थे, सभ्यता पनपी थी, ज्ञानसत्र सम्भव हो सके थे।

वैदिक वाङ्मय के अन्वेषण से सरस्वती नदी के बारे में प्रभूत तथ्य पाये जा सकते हैं। उसके चारों ओर अनेक पुराकथाएँ विकसित हो गई हैं। *ऋग्वेद* में तो उसका पूरा विवरण है—

एक चेतत्सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रम्।
रूपश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुहुत नाहुषाद्य।। — *ऋक्.* ७/९५/२

यह पर्वत से समुद्र तक बहती थी, सारी सृष्टि को समृद्धि देती थी, धान्य, घृत, जल, सभी के द्वारा साम्राज्य को संवर्धित करती थी, नाहुष अर्थात् अपने किनारे और आस-पास रहने वाले विपुल मानव समाज को पोषित करती थी। यह भास्वती नदी अपने प्रवाह में परिवर्तन करती रही। इसका सङ्केत भी वेदों में मिलता है। *अथर्ववेद* में सङ्केत है कि यह तीन नदियों में बँट गई (६/१०१)। यह प्रवाह के परिवर्तन का प्रतीक माना जाता है। तभी तो महाभारत में (शल्यपर्व, ३८ अ.) यह उल्लेख भी मिलता है कि सरस्वती की सात नदियों का एक सदा-सारस्वत पुञ्ज भी बन गया था।

पुराणों में सरस्वती नदी की पुरागाथा का पूरा विवरण मिलता है। कुरुक्षेत्र के पास वह अन्त:सलिला हो गई थी, अत: उस स्थान को विनशन कहा गया। महाभारत(उद्योग पर्व, अध्याय १५७/३०-३५) में बलराम का कथन कि अब वे खिन्न होकर सरस्वती नदी के तटस्थित तीर्थों में विचरण करेंगे, भीष्म पर्व (९वाँ अध्याय) में भारत की नदियों की सूची में सर्वप्रथम गङ्गा, सिन्धु और सरस्वती का नाम उल्लिखित होना, शल्यपर्व (३७वाँ अध्याय) में सरस्वती नदी की शाखाओं का विवरण आदि यह सङ्केत देते हैं कि महाभारत काल तक सरस्वती नदी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान थी। महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है कि सरस्वती के किनारे अश्मकुट्ट, संप्रधान, दन्तोलूखली आदि वेदपाठी विद्वानों, विभिन्न जातियों और ऋषियों की ऐसी बस्तियाँ थीं जो सुसभ्य और अध्ययनरत थीं। इसे सुभूमिक तीर्थ कहा गया है।

महाभारत की ही एक अन्य कथा जिसमें सात सरस्वतियों का आख्यान है यह बताती है कि अन्तर्हित सरस्वती का जब ऋषियों ने स्मरण किया तो अलग-अलग शाखाओं के रूप में वह प्रकट हुई। वहाँ सदासारस्वत तीर्थ बन गया जिसमें सुप्रभा, काञ्चनाक्षी, विशाला, मनोरमा, ओघवती, सुरेणु और विमलादेवी

नदियाँ शामिल थीं। यह प्रतीकात्मक पुराकथा लगती है। शोध विद्वानों का यह मानना है कि अफगानिस्तान में जो हरक्वैती है जिसे आजकल हेल्मण्ड कहते हैं, वह सरस्वती नदी का ही पूर्व रूप था, उसका स्मरण करते हुए यहाँ भी सरस्वती नामक नदियाँ को सम्मान दिया जाने लगा। व्युत्पत्ति की दृष्टि से सरस्वती उस नदी को कहा जाता है जिसमें बीच-बीच में अनेक 'सर' (गहरे स्थान) भी हों। जिसका आधार पक्का, एकरूप हो उसे दृषद्वती कहा जाता था। वेदकाल की सरस्वती और दृषद्वती दोनों नदियाँ प्रसिद्ध थीं।

जयपुर के वेदविद्या वाचस्पति, विज्ञानवाद के विवेचन पु. मधुसूदन ओझा ने अपने ग्रन्थों (जैसे इन्द्रविजय) में स्पष्ट किया है कि सरस्वती नदी के किनारे अनेक ऋषियों के तपोवन, यज्ञशालाएँ और अनुसन्धान शालाएँ थीं, जो खगोल, सृष्टि विज्ञान, ज्योतिष, दर्शन, धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन, शोध, अध्यापन आदि के कार्यक्रम चलाती थीं, यज्ञों और समज्याओं (परिसंवाद, सङ्गोष्ठी) आदि का आयोजन करती थीं। लगता है इस प्रकार के विद्यासंवर्धनात्मक कार्यों के इतिहास की धनी होने के कारण सरस्वती को विद्या की देवी के रूप में पूजा जाने लगा। इससे पूर्व 'वाक्' का उल्लेख अवश्य मिलता है जिसे सृष्टि के साथ ज्ञान और शब्द के प्रवर्तन का श्रेय दिया जाता है। ब्राह्मणों और विवेचनात्मक वाङ्मय में वाक् के विभिन्न रूपों की चर्चा आती है जिन्हें सुब्रह्मण्या वाक्, बृहती वाक्, अनुष्टुप् वाक्, आम्भृणी वाक्—इन चार रूपों में देखा गया है। फिर सुब्रह्मण्या, बेकुरा, गौरिवीता और आम्भृणी इन चार रूपों की चर्चा भी मिलती है। उपनिषदों और दर्शन वाङ्मय में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार स्वरूपों का विवरण सुविदित है ही। यह वाग्देवी वाणी और विद्या की देवी मानी गई। चूँकि समस्त ज्ञान शब्द के द्वारा भासित होता है अत: शब्द की महिमा सभी संस्कृतियों में बखानी गई है। वाक्-सूक्तों में भी वाक् को देवी के रूप में उल्लिखित करना, पुराणों में उन्हें रात्रि-सूक्त और देवी-सूक्त के साथ जोड़कर उस परम्परा का अङ्ग बनाना इसी अवधारणा का प्रतिफलन है।

वाग्देवी

पुराणकाल में विद्याओं और कलाओं की अधिष्ठात्री देवी के रूप में कमलासना, हंसवाहनी, वीणापाणि, पुस्तकहस्ता सरस्वती की जो अवधारणा पनपी वह आज भारतीय संस्कृति की एक विशिष्ट पहचान के रूप में जन-जन के मानस पटल पर बसी हुई है, इसी की पूजा बसन्तपञ्चमी के दिन (सरस्वती जयन्ती मानकर या अन्य अनेक रूपों में) भी की जाती है, विजयदशमी के दिन भी। विद्यालयों, विश्वविद्यालयों आदि की यह अधिष्ठात्री देवी बन गई है जहाँ सरस्वती मन्दिर भी बने हुए हैं, अनेक स्तुतियाँ भी विकसित हो गई हैं। वेदों की वाग्देवी का वह सूक्त तो प्रसिद्ध ही है जिसमें आम्भृणी वाक् अपनी भूमि को स्पष्ट करती हुई कहती है—

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथम याज्ञियानाम्।

यह सूक्त इस प्रकार प्रारम्भ होता है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवै:।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राणी अहमाश्विनोभा।। (१०/१२५)

वाक् अर्थात् प्रज्ञा या चेतना ही शक्ति है जो सृष्टि का उद्भव करती है, देवों को अपनी भूमिका देती है, संसार को चलाती है, रुद्र, वसु, आदित्य आदि को व्यवस्थित करती है। इस तत्त्व रूप चेतना या शक्ति को देवी रूप में पूजा जाने लगा तो नवदुर्गाओं और दशमहाविद्याओं के रूप में उसके स्वरूपों की विभिन्न अवधारणाएँ पनपीं। शक्तिपूजा की सुदीर्घ परम्परा के साथ वैदिक परम्परा को जोड़ने की हमारी चिरन्तन प्रवृत्ति का यह प्रतीक है कि मन्त्रों को शामिल करते हुए देव्यथर्वशीर्ष का पाठ करने का विधान आज तक चल रहा है। किन्तु इसके अतिरिक्त पौराणिक सरस्वती की अवधारणा के क्रम में वीणा पुस्तकधारिणी सरस्वती की पूजा शिक्षा केन्द्रों में तथा शक्ति पूजा की परम्परा में महासरस्वती के रूप में दुर्गापूजा के साथ सर्वशुक्ला शक्ति की पूजा दुर्गापाठियों में जो आज तक चली आ रही है उसका इतिहास भी सदियों पुराना है।

जबसे त्रिदेवों की अवधारणा पनपी, ब्रह्मा, विष्णु और शिव के स्वरूपों की पुराकथाएँ प्रचलित हुईं, उनके साथ उनकी सहचरिणियों की अवधारणा भी उद्विकसित हुई। इनमें एक अवधारणा है ब्रह्मा की सहचरिणी सरस्वती, विष्णु की लक्ष्मी और शिव की पार्वती की। कहीं-कहीं सरस्वती को ब्रह्मा की पुत्री भी बताया गया है जिसका रहस्य तो यह है कि सृष्टि कर्त्ता के रूप में प्रजापति ही वाणी या विद्या को भी जन्म देता है। महाभारत में दक्ष प्रजापति की पुत्री के रूप में सरस्वती का वर्णन और उसके हाथ में पुस्तक और वीणा का उल्लेख इसी का सूचक है। सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा की सहचरिणी सरस्वती का वाहन है हंस जो हमारी संस्कृति में विशुद्ध चिन्तन और नीरक्षीर विवेक का प्रतीक माना जाता है, प्राणविद्या और चेतना का भी। जीव को इसीलिए हंस कहा गया है। विद्या की इस देवी की उपासना पौराणिक और तान्त्रिक दोनों परम्पराओं में विभिन्न रूपों में की जाती है। तान्त्रिक परम्परा ने जैन और बौद्ध संस्कृतियों में भी सरस्वती की उपासना को विविध रूपों में पनपाने की प्रेरणा दी है जो बड़े रुचिकर अध्ययन का विषय है। यहाँ सङ्क्षेप में इनकी चर्चा की जा रही है।

विद्या और कला की देवी

विद्या की देवी होने के कारण सरस्वती सत्त्वगुण की प्रतीक है अत: सर्वशुक्ला है। उनके सिर पर चन्द्रमा सुशोभित है, वाहन हंस है। एक हाथ में पुस्तक, दूसरे में वीणा, तीसरे में अमृतकलश, चौथे में अक्षमाला है। पुस्तक विद्या का, वीणा कलाओं का, अमृतकलश चित् शक्ति या ज्ञानशक्ति का तथा माला मनन या साधना का प्रतिनिधित्व करते हैं, हंस विवेक का। इस रूप में विद्याओं और कलाओं की देवी सरस्वती सदियों से लोकप्रिय है और उसकी स्तुति के ये पद्य विद्वानों का कण्ठहार बन गए हैं—

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता, या वीणा वरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना।
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिर्देवै: सदा वन्दिता, सा मां पातु सरस्वती भगवती नि:शेषजाड्यापहा।

जिस पद्य में सरस्वती को पद्मासन स्थित और अक्षमाला की बजाय स्फटिक की माला (श्वेत मणियों की) धारण किए बतलाया गया है, वह भी सुप्रसिद्ध है।

शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीं वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम्।
हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थिता वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम्।।

श्वेतपद्म का आसन, श्वेतमणियों की माला सर्वशुक्ला सरस्वती के सात्त्विक स्वरूप के अनुकूल होने के कारण उनके साथ जुड़ गये हैं जिनका वैज्ञानिक, प्रतीकात्मक महत्व है। आज भी स्फटिक माला पर जपा हुआ सरस्वती मन्त्र तत्काल सिद्धि देता है यह साधकों की धारणा है।

सरस्वती का यही ध्यान हंसारूढ़ और पद्मासना स्थित रूप में इस श्लोक में निबद्ध है—

हंसारूढा हरहसितहारेन्दुकुन्दावदाता वाणी मन्दस्मिततरमुखी मौलिबद्धेन्दुलेखा।
विद्यावीणाऽमृतमयाघटाक्षस्रगादीप्तहस्ता श्वेताब्जस्था भवदभिमतप्राप्तये भारती स्यात्।।

सरस्वती को ही ब्राह्मी, भारती, गी, वाक् आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया जाता था जैसाकि अमरकोष में संस्कृत का छात्र याद रखता है—ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग् वाणी सरस्वती।

तन्त्रों में

वाणी की देवी होने के नाते सरस्वती अक्षरों की अधिष्ठात्री भी तो है। इसीलिए तन्त्र की परम्परा में उसे लिपिबद्ध अक्षरों की देवी के रूप में पूजा जाता है। तान्त्रिक लिपिशास्त्र जो आज भारत की सभी भाषाओं में स्पष्टत: प्रतिफलित है ५० वर्णों की वर्णमाला मानकर चलता है। ज्ञातव्य है कि आज हम जो वर्णमाला पढ़ रहे हैं वह यही ५० मातृकाओं की वर्णमाला है। पाणिनीय शिक्षा में '**त्रिषष्टिर्वा चतु: षष्टिर्वर्णा: शम्भुमते मता:**' कहकर माहेश्वर व्याकरण के जिन तिरसठ या चौंसठ वर्णों का उल्लेख किया गया है वे आज कहाँ चल रहे हैं? केवल पुस्तकस्थ ही तो हैं। आज जो वर्णमाला चल रही है, उसमें ५० से अधिक अक्षर नहीं हैं। वाग्देवी या सरस्वती के विभिन्न अङ्ग इन पचास अक्षरों से बने माने गये हैं, उनका ध्यान इसी प्रकार तान्त्रिक उपासना में किया जाता है—

पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदो: पन्मध्यवक्ष:स्थला भास्वन्मौलिनिबद्धरत्नमुकुटामापीनतुङ्गस्तनीम्।
मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्यां च हस्ताम्बुजैर्बिभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये।।

तान्त्रिक सरस्वती त्रिनेत्र है, पचास वर्णों से उसके मुख, बाहु, चरण, कटि, वक्ष आदि अङ्ग बने हैं। एक हाथ में अक्षमाला, दूसरे में अमृतकलश, तीसरे में पुस्तक और चौथे में ज्ञानमुद्रा है (जबकि पौराणिक सरस्वती के हाथ में वीणा है)। *शारदातिलक* नामक तन्त्र ग्रन्थ में भी यही मङ्गलाचरण है—

नित्यानन्दवपुर्निरन्तरगलन् पञ्चाशदर्णै: क्रमाद् व्याप्तं येन चराचरात्मकमिदं शब्दार्थरूपं जगत्।
शब्दब्रह्म यदूचिरे सुकृतिनश्चैतन्यमन्तर्गतं तद् वोऽव्यादनिशं शशाङ्कसदनं वाचामधीशं मह:।।

शब्द स्वरूपा वाग्देवी लिपियों की अधिष्ठात्री है, मातृका है। तभी तो 'वर्णमातृका' यह नाम सुप्रचलित है। तान्त्रिक सरस्वती का बीजाक्षर है 'ऐं'। ओं, ऐं, ह्रीं, क्लीं आदि बीजाक्षरों से सरस्वती उपासना के विविध मन्त्र तन्त्र-परम्परा में प्रचलित हैं।

तन्त्र की यह परम्परा केवल भारत तक ही सीमित रही है, सो बात नहीं है। तिब्बत, चीन आदि में भी तान्त्रिक पूजा का जो प्रभाव पड़ा उसके कारण वहाँ भी सरस्वती पूजा के विविध रूप प्रचलित हुए। जैनों और बौद्धों को समान रूप से प्रभावित किया था जिसके फलस्वरूप सिद्धों के अनेक पन्थ बौद्ध संस्कृति में पनपे, साथ ही जैनों में

अनेक उपासना प्रकार विकसित हुए। सरस्वती की उपासना बौद्धों में नील सरस्वती की साधना के रूप में देखी जा सकती है। प्रज्ञापारमिता के रूप में चैतन्य और प्रज्ञान, विद्या और विज्ञान की देवियों की साधना बौद्धों में सुप्रचलित है। इसी क्रम में तान्त्रिक नील सरस्वती की उपासना वहाँ लोकप्रिय हुई जो दश महाविद्याओं में द्वितीय महाविद्या तारा अथवा अग्रतारा का ही स्वरूप है। तारा को नील सरस्वती भी कहा गया है जो विद्या, वैदुष्य, काव्य कला, वाग्मिता आदि की देवी भी है। तान्त्रिक रहस्यवाद की साधना परम्परा में सरस्वती उग्रतारा के रूप में उपासित है और सरस्वती की विमर्श शक्ति षोडशी के रूप में जिसे त्रिपुरसुन्दरी, ललिताम्बा आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है, जिसका यन्त्र 'श्रीयन्त्र' सुप्रसिद्ध है। शङ्कराचार्य आदि की साधना में भी त्रिपुरा की उपासना प्रचलित हो जाने के कारण इसे शास्त्रज्ञान और वैदुष्य देने वाली देवी के रूप में देखा जाने लगा। वैसे द्वितीय महाविद्या तारा को नील सरस्वती के रूप में भारत से लेकर चीन आदि देशों तक में पूजा जाता रहा है। वे सर्वशुक्ला न होकर नीलवर्णा हैं, सर्पाभूषण धारण किए हुए हैं, कमल, कर्तरी, खड्ग, कपाल आदि हाथों में लिये हुए हैं, सरस्वती की तरह ही पद्मासन पर खड़ी हैं। चीन का बौद्ध समाज भी इनकी पूजा करता है जबकि तिब्बत में वीणा सरस्वती की पूजा होती है। काश्मीर में शैवागम का अधिक प्रचार था किन्तु शारदा की उपासना वहाँ सदियों से चलती थी। तभी तो वहाँ का शारदापीठ प्रसिद्ध है। उसे शारदादेश कहा जाता था। दक्षिण भारत में शृङ्गेरी स्थित शङ्कराचार्य का पीठ भी शारदापीठ कहा जाता है। यह कथा भी पुराणों में आती है कि सरस्वती ने दुर्वासा के शाप के कारण कश्मीर में जन्म ग्रहण किया था। शारदापीठ में उन्हीं की पूजा होती थी।

इसी प्रकार जैन परम्परा में भी सरस्वती की उपासना के विविध रूप और प्रकार प्रचलित हैं। वहाँ भी विद्या की देवी तथा कला कौशल की अधिष्ठात्री के रूप में उनकी पूजा होती है। भारत में कुछ स्थानों पर मयूर वाहन वाली सरस्वती के चित्र बहुत प्रचलित रहे। सम्भवत: इसका प्रारम्भ राजा रविवर्मा के उस चित्र से हुआ जिसमें उन्होंने सरस्वती के पास एक मोर का चित्र भी बना दिया। सरस्वती हंसवाहना है या मयूरवाहना इस बात पर तभी उन दिनों (बीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशक में) बहुत विवाद रहा। इस बारे में पूना के भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट के क्यूरेटर डॉ. परशुराम कृष्ण गोड़े ने शोध किया और यह पाया कि जैन परम्परा में मयूरवाहन वाली सरस्वती तथा अन्य देवियाँ, यक्षिणियां आदि की अवधारणा पाई जाती है। भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री का शोध लेख 'हंसवाहना सरस्वती मयूरवाहना कथं जाता' उन दिनों बहुत चर्चित रहा था। मयूरवाहना सरस्वती के चित्र उसी परम्परा से प्रभावित हैं। जैन मूर्तिकला में खड़ी हुई सरस्वती की बहुत प्राचीन मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। राजस्थान में ऐसी कुछ मूर्तियाँ प्राप्त भी हुई हैं।

महासरस्वती

तान्त्रिक और पौराणिक परम्पराओं के समन्वय के फलस्वरूप सरस्वती का एक अन्य स्वरूप भी विकसित हुआ जो आज तक दुर्गापूजाओं में महासरस्वती के नाम से लोकप्रिय है। शक्तिपूजा की पौराणिक परम्परा में नवदुर्गाएँ तो प्रसिद्ध हैं ही (शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी, सिद्धिदात्री), त्रिदेवों की शक्ति के रूप में महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती भी प्रसिद्ध हैं। मार्कण्डेय पुराण में

दुर्गा (शक्ति) के सुप्रसिद्ध उपाख्यान के जो तेरह अध्याय अपने सात सौ श्लोकों के कारण दुर्गासप्तशती के नाम से भारत में विशेष कर उत्तर और पूर्वी भारत में लोकप्रिय हैं उसके तीन भाग किए जाते हैं। प्रथम चरित, मध्यम चरित्र और उत्तर चरित्र जिसे उत्तम चरित्र कहा जाता है। जिस प्रकार वेद के सूक्तों में उनका एक देवता होता है, एक ऋषि, एक छन्द उसी प्रकार इन चरित्रों के भी ऋषियों और देवताओं की अवधारणा की गई। यह माना गया कि इनके ऋषि क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं, साथ ही यह भी कि इनकी देवता क्रमशः महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती हैं, ये क्रमशः ऋक्, यजु और साम वेदों के प्रतीक हैं आदि। इसमें यह अवश्य आश्चर्यजनक है कि जिस चरित्र में ऋषि ब्रह्मा हैं, उसकी देवता ब्रह्मा की शक्ति महासरस्वती न मानकर महाकाली मान ली गई (प्रथम चरित्र की) और जिसके ऋषि रुद्र हैं, उनकी शक्ति महाकाली की बजाय उस चरित्र की देवता महासरस्वती मान ली गई (उत्तम चरित्र की) जबकि मध्यम चरित्र के ऋषि विष्णु और उनकी शक्ति महालक्ष्मी ही देवता मानी गई हैं। इसका अवश्य ही कोई रहस्यात्मक कारण रहा होगा किन्तु दुर्गासप्तशती की ये तीन चरित्राधिष्ठात्री देवियाँ दुर्गापाठियों के लिए सदियों से ध्यान, उपासना, पूजा और पाठ का आलम्बन रही हैं। इनके स्वरूप सुनिर्धारित हैं यहाँ काली नीलवर्णा है, दशभुजा हैं, महालक्ष्मी अरुणवर्णा हैं, अष्टादश भुजा हैं, महासरस्वती श्वेत वर्णा और अष्टभुजा।

दुर्गापूजकों द्वारा सेवित महासरस्वती का यह स्वरूप सत्त्वगुण का प्रतीक होने के कारण श्वेत वर्ण है। उनकी आठ भुजाओं में घण्टा, शूल, हल, शङ्ख, मूसल, चक्र, धनु और बाण हैं, तीन नेत्र हैं। तन्त्र से जुड़ होने के कारण दुर्गासेवकों की ये तीनों देवियाँ त्रिनेत्रा हों, यह स्वाभाविक ही है। महासरस्वती का यह ध्यान दुर्गापाठ के हर बार तीसरे चरित्र का प्रारम्भ करते समय किया जाता है—

घण्टाशूलहलानि शङ्खमुसले चक्रं धनुःसायकान् हस्ताब्जैर्दधतीं घनान्तविलसच्छीतांशुतुल्यप्रभाम्।
गौरीदेहसमुद्भवां त्रिजगतामाधारभूतां महापूर्वामत्र सरस्वतीमनुभजेच्छुम्भादिदैत्यार्दिनीम्।।

महासरस्वती का यह स्वरूप वैदिक सरस्वती नदी पौराणिक विद्या और कला की देवी सरस्वती तथा तान्त्रिक नीलसरस्वती के स्वरूप से कुछ हटकर है। इसी कारण वेदकाल से लेकर पुराणकाल तक देवी सरस्वती की विभिन्न अवधारणाओं की यह सुदीर्घ यात्रा शोध विद्वानों के विविध गहन अध्ययनों का विषय आज तक बनी हुई है। इन सब स्वरूपों में समन्वय के प्रयास भी परिलक्षित हुए हैं। आज भी शारदीय नवरात्रों में सरस्वती पूजा की एक अलग ही परम्परा देश के विभिन्न भागों में चल रही है जिसका विवरण धर्मशास्त्रों में भी पाया जाता है। यह परम्परा है आश्विन शुक्ल पक्ष में षष्ठी या सप्तमी के दिन जब भी मूल नक्षत्र हो, पुस्तकों को एकत्र करके उनमें विद्या की देवी सरस्वती का ध्यान, आवाहन और पूजन करने की तथा नवमी या दशमी को जब भी श्रवण नक्षत्र हो तो उसका विसर्जन करने की। धर्मशास्त्रों का विधान है

मूलेनावाहयेद् देवीं पूर्वाषाढासु पूजयेत्। उत्तरासु बलिं दद्यात् श्रवणेन विसर्जयेत्।

अर्थात् मूल नक्षत्र में सरस्वती देवी का आवाहन किया जाए, अगले दिन पूर्वाषाढा नक्षत्र में पूजा की जाए, उससे अगले दिन उत्तराषाढ नक्षत्र में नैवेद्य समर्पण अर्थात् बलि प्रदान किया जाए और उससे अगले दिन श्रवण नक्षत्र में विसर्जन किया जाए। ये दिन आश्विनशुक्ल में षष्ठी से दशमी के बीच आते हैं, उन्हीं दिनों में ये नक्षत्र आते

हैं। प्राचीन परिवारों में आज भी पुस्तकों को इकट्ठा कर ऐसी पूजा की जाती है। उन दिनों अध्ययन-अध्यापन की छुट्टी हो जाती है। वैसे महाष्टमी, महानवमी, दशहरा आदि के उत्सव इन दिनों में होते हैं।

इस परम्परा में सभी परम्पराओं का समन्वय देखा जा सकता है। नक्षत्रों के अनुसार देवपूजा करना प्राचीनकाल या वैदिककाल की परम्परा है। उन दिनों इन नक्षत्रों में पुस्तकों में सरस्वती का पूजन विद्या की देवी की पूजा का प्रतीक लगता है जबकि शारदीय नवरात्रों में इस पूजा का होना दुर्गापूजा या शक्तिपूजा की परम्परा से इसे जोड़ता है। उत्तरासु बलिं दद्यात्—जैसे विधान तान्त्रिक परम्परा के निकट लगते हैं। सरस्वती पूजा की यह परम्परा अक्षरमातृकाओं की देवी की पूजा का प्रतीक है, क्योंकि साक्षात् पुस्तकों में ही देवी का आवाहन किया जाता है। दक्षिण भारत में तो शारदीय नवरात्रों के बाद की दशमी जो विजयदशमी के नाम से प्रसिद्ध है, अक्षरारम्भ या विद्यारम्भ के सुनिश्चित शुभ मुहूर्त के रूप में बालकों को वर्णमाला सिखानेका अबूझ मुहूर्त या पर्व बनी हुई है, विद्या की देवी सरस्वती की ऐसी उपासनाओं की अनादि, विविध स्वरूपी और व्यापक क्षेत्र का स्पर्श करने वाली परम्पराएँ ज्ञान के उपासक इस देश की सतत विद्या साधना के सुदीर्घ इतिहास का समुज्जवल दर्पण बनी हुई हैं।

पौराणिक मान्यता के अनुसार विद्याऔर कलाओं की देवी सरस्वती का प्राकट्य माघशुक्ल पञ्चमी को हुआ था जिसे वसन्तपञ्चमी कहा जाता है और जिस दिन प्राय: समस्त भारत में पीत पुष्पों से पीत परिधान पहन कर देवी सरस्वती का पूजन किया जाता है। इस दिन को सङ्गीत विद्यापीठों द्वारा तो वर्ष के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उत्सव के रूपमें सङ्गीत सभाओं और सरस्वती स्तुति गान आदि के द्वारा धूमधाम से मनाया जाता है। इस दृष्टि से वर्ष में वीणापाणि, कलाओं की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती का प्रमुख उत्सव वसन्तपञ्चमी ही बन गया है। सरवस्वती का अतिप्राचीन और प्रसिद्ध मन्दिर भारत में कहाँ रहा होगा इस बारे में एकमत्य नहीं है तथापि यह माना जाता है कि कश्मीर में शारदापीठ अवश्य रहा होगा जहाँ विद्या प्राप्त करने हेतु भारत के सभी प्रदेशों से विद्यार्थी जाते थे किन्तु आज सरस्वती मन्दिरों के नाम पर विभिन्न विद्या केन्द्रों, विश्वविद्यालयों (जैसे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) आदि में गत शताब्दी में निर्मित मन्दिर ही प्रमुखत: पाये जाते हैं, जहाँ वसन्तपञ्चमी को सरस्वती पूजन के आयोजन किये जाते हैं। ऐसे अवसरों पर वेदकालीन महानदी सरस्वती से लेकर तान्त्रिक परम्परा की शारदा, नीलसरस्वती आदि को सम्मिलित करते हुए वाग्देवी से लेकर वीणाधारिणी कलाओं की देवी सरस्वती तक फैले हुए माँ भारती के विभिन्न स्वरूपों का स्मरण विद्वानों को हो आये, यह स्वाभाविक ही है। यह केवल एक संयोग ही नहीं है कि भारतीय दर्शन के अमर सिद्धान्त 'अद्वैत' के ध्वजवाहक शङ्कराचार्य के दस प्रशिष्यों की परम्परा को लेकर चले संन्यासियों के सुप्रसिद्ध दशनामी सम्प्रदाय के साधुओं के जो नाम रखे जाते हैं उनमें दो शाखाएँ देवी सरस्वती के नाम पर हैं—तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती और पुरी इनमें सरस्वती और भारती इसी देवी के नाम हैं।

पीठाध्यक्ष, आधुनिक संस्कृत पीठ
जगद्गुरुरामानन्दाचार्यराजस्थानसंस्कृतविश्वविद्यालय,
मदाऊ, भांकरोटा, जयपुर- ३०२०२६

शैव दार्शनिकों की अद्वयमयी भक्ति

प्रो .बीना अग्रवाल

जीवन के केन्द्रीय अर्थ-परम सत्य की खोज के तीन मार्ग- ज्ञान, योग और भक्ति क्रमशः बुद्धि, कर्म और भावना से जुड़े हैं। बुद्धि अथवा कर्म से प्राप्त परमतत्त्व की उपलब्धि की अपेक्षा भावना के द्वारा प्राप्त उपलब्धि का स्वारस्य एवं आत्म सन्तोष अद्वितीय होता है। भावना की पराकाष्ठा ही भक्ति में दिखाई देती है।

निर्वचन की दृष्टि से 'भज्' धातु से क्तिन् प्रत्ययपूर्वक 'भक्ति' पद की निष्पत्ति होती है। भज् धातु विभेदनार्थक है अतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से भक्ति में द्वैत का संस्पर्श स्वाभाविक है। भक्ति के रूढ़ अर्थ हैं सेवन, आराधन, अनुरञ्जन अथवा तदेकताप्रधान चित्तवृत्ति। भक्ति का एक अन्य अर्थ अथवा चरम लक्ष्य अभेदानुसन्धान है। इस प्रकार भक्ति का अर्थबोध तीन चरणों में होता है—(१) प्रमेय के स्तर पर भक्ति भेदात्मक है (२) प्रमाता या भक्त के स्तर पर भक्ति का स्वरूप रागात्मक है और (३) प्रमिति या बोध के स्तर पर यह अनुसन्धानात्मक है, यह वृत्ति ही क्रमशः स्वरूपानुसन्धानपूर्वक दास्य भाव में पर्यवसित होती है। यह ईश्वर और भक्त के भेद पर आश्रित है। वह परमेश्वर परमात्मा महान् है और भक्त अकिञ्चन। भक्त और भगवान् के इस द्वैत पर ही आश्रित है, नौ प्रकार की भक्ति—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। *(भागवतपुराण ७. ५. २३)*

गीता में भी ईश्वर की भक्ति करने वाले लोग चार प्रकार के बताए गए हैं-

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। *(गीता ७. १६)*

इन चारों प्रकारों में ज्ञानी की भक्ति सर्वश्रेष्ठ मानी गई है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। *(गीता,* ७.१७)

यही नहीं, शैव दर्शन के भक्तिपरक तकनीकी शब्द आवेश का भी इसी अर्थ में प्रयोग मिलता है-

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।। —*वही १२. ३*

यही बात अभिनवगुप्त इस रूप में कहते हैं—

जिसने मुझे (परमेश्वर को) पहचान लिया है वह ज्ञानी आत्मा है अर्थात् परमेश्वर का स्वरूप भूत है न कि मैं अर्थात् परमेश्वर उसका स्वरूप हूं। इस प्रकार का ज्ञानी भक्त और ज्ञाननित्य ही भक्ति है-

एतदेव स्फुटयन्ति 'ज्ञानी हि भक्त' इति।
ज्ञानित्वमेव नाम भक्तिरिति यावत्। — (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीविवृत्ति १. २९*)

भक्ति से कर्म अथवा साधना की तुलना करने पर दिखाई देता है कि साधना से भोग और भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

शिवाद्वयवाद के अनुसार '**भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते**' इत्याद्युक्त्या भक्त्यादीनां मुक्तौ, मन्त्रसिद्ध्यादीनां च भुक्तौ प्राधान्यमन्यत्र चानुषङ्ग इति।' (*तन्त्रालोक*, विवेक, पांच, पृ. २३३७)

अभिनवगुप्त के अनुसार भी भक्ति आत्मा की निर्मलता, प्रसाद, भगवद्रूपता अथवा तादात्म्य रूप मोक्ष ही है।[१] इन के अनुसार भक्ति का आवेश भक्त के मन को विशदतर बना देता है जिसमें भगवन्मयता तत्काल स्पष्टतया प्रविष्ट हो जाती है।[२] प्रसादन अथवा विशदीकरण की यह प्रक्रिया दोनों तरह से सम्भव है। परम शिव के प्रसाद/कृपा से भक्ति का उदय होता है और भक्त के मनःप्रसाद से परमेश्वर की कृपा की प्राप्ति होती है। भक्ति के अन्तर्गत ईश्वर की दासता स्वीकार कर लेने से समस्त सम्पत्ति की प्राप्ति होने से स्वात्मा परिपूर्ण हो जाता है और कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता ''अस्य तु ईश्वरदास्येन समस्तसम्पत्प्राप्तिहेतुना परिपूर्णत्वात् स्वात्मनि किञ्चिदपि कर्तव्यमेषणीयं नास्ति।'' (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीविवृत्ति* ।, पृ. ३३)

क्षेमराज के अनुसार भक्ति वह अनुत्तम रसायन है जिसके चर्वण से ज्ञानी भी प्रबुद्ध हो जाता है या ईश्वर बन जाता है। शङ्कर के अनुसार '**स्तुतिरसायनमाचकर्ष तच्चर्वनादिह बुधादिबुधा भवन्तु**' (*स्तवचिन्तामणि*, श्लोक ४)

भक्ति को मोक्ष रूपी महाफल को प्रदान करने वाली बताया गया है-

त्वद्भक्तिरसायनेन सिक्तपरमानन्दमयमोक्षमहाफलम्। (*शिवस्तोत्र विवृत्ति १. २६*)

महार्थमञ्जरी की वृत्ति में भक्ति का अन्तिम रूप भावनीय परमेश्वर से एकीभाव बताया गया है-

न पादपतनं भक्तिर्व्यापिनं परमेशितुः।
भक्तिर्भावस्वभावानां तदेकीभावभावनम्।। (*महार्थमञ्जरी*, परिमल, पृ. १०८)

उत्पल, अभिनवगुप्त आदि दार्शनिकों के भक्तिपूर्ण स्तोत्रों में दार्शनिकता के स्थान पर भावों की गहराई अधिक मिलती है जबकि लल्लद, जो सन्त कवयित्री कही जा सकती हैं, के वाक्य अधिकतर दार्शनिकता से

ओतप्रोत हैं। परमतत्त्व को सम्बोधित अथवा सामान्य रूप से कथित इन वाक्यों में दैनन्दिन जीवन व्यापार के कथन के साथ पारमार्थिक सत्य गुंथा हुआ है जिसका कवयित्री ने स्वयं अनुभव किया था व लोकभाषा में सरल तरीके से प्रस्तुत किया जो सामान्य जन के लिए सुबोध था।

दार्शनिक एवं भक्त दोनों का ही लक्ष्य परमतत्त्व की प्राप्ति अथवा समावेश है, किन्तु उनके मार्ग अलग अलग हैं। भक्ति के लिए भक्त और परमेश्वर में भेद या द्वैत आवश्यक है, जबकि दर्शन में अद्वयवादी व्याख्यापूर्वक आत्मसाक्षात्कार के रूप में मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

दार्शनिक→ ज्ञान→ भक्ति→शक्तिपात→ मोक्ष

भक्त→नुति, स्तुति, आत्मनिवेदन स्तोत्र, प्रह्वीभाव, समावेश

अद्वयवादी दार्शनिक दृष्टि में आत्मतत्त्व में ही सांसारिक पदार्थों का प्रकाशन होता है, विश्वोत्तीर्ण महेश्वर ही विश्वमय रूप में संसार में आभासित होता है और ज्ञान, योग, भक्ति, शक्तिपात आदि की प्रक्रिया द्वारा जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि ये सांसारिक पदार्थ मुझ में ही आभासित हो रहे हैं अथवा ये मेरा ही विस्तार है तो यह आत्म साक्षात्कार रूपी मोक्ष अथवा समावेश दशा है।

सांसारिकदशाआत्मा भातीति संवित्तौ भावा भान्तीति भासते।
मोक्षदशाभावा भान्तीति संवित्तौ आत्मा भातीति भासते।।
तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः।।१३। *प्रत्यभिज्ञाहृदय,* ५
चितिरेव चेतनपदादवरूढ़ा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्। — *प्रत्यभिज्ञाहृदय,* ५

भक्ति की प्रक्रिया में भक्त स्वयं को अकिञ्चन मानकर परमेश्वर को सम्पूर्ण मानता हे और उस पर पहुंचने के लिए पूजा, जप, उपासना आदि मार्गों का आश्रय लेता है। इस मार्ग में आगे बढ़ने पर उसे परमात्मा से अपनी अभिन्नता की अनुभूति से होने वाले आनन्द की प्राप्ति होने लगती है।

मन्त्रोऽसि मन्त्रनीयोऽसि मन्त्री त्वत्तः कुतोऽपरः।
स मह्यं देहि तं मन्त्रं तवन्मन्त्रः स्यां यथा प्रभोः।। *(स्तवचिन्तामणि, ८४)*

शिव-शिव-शिवेति नामनि तव निरवधि नाथ जप्यमानेऽस्मिन्।
आस्वादयन् भवेयं कमपि महारसमपुनरुक्तम्।। *(शिवस्तोत्रावली, ५. २३)*

अभिनवगुप्त के अनुसार परमेश्वरता लाभ ही जीवन की परम सम्पत्ति है और यही भक्तियात्रा का एकमात्र पाथेय है—

परमेश्वरतालाभे हि समस्ताः सम्पदः तन्निष्यन्दमय्यः सम्पन्ना एव, रोहणलाभे रत्नसम्पद इव।
प्रमुषित स्वात्मपरमार्थस्य हि किम् अन्येन लब्धेन। *(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीविवृत्ति* १.३३)

समस्तसम्पल्लक्षणपारमैश्वर्यकरूपप्रथनम्। (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीविवृत्ति*। पृ. ४१-२)

गोपीनाथ कविराज के अनुसार काश्मीर शैव दर्शन की भक्ति की विशेषता अभेद में भेद दर्शन है जबकि अन्यत्र भेद में अभेद दर्शन होता है।

अनपेक्ष्य शिवे भक्तिः शक्तिपातोऽफलार्थिनाम्।
या फलार्थितया भक्तिः सा कर्माद्यमपेक्षते।। *तन्त्रालोक१३. ११८*

शिव का निरपेक्ष शक्तिपात ही भक्ति है, उन पर जो किसी फलाकाङ्क्षा के बिना स्वरूपानुसंधान में प्रवृत्त हुए हैं जो किसी फल की आकाङ्क्षा से भक्ति करते हैं उन पर शक्तिपात भी कर्मादि से सापेक्ष होता है।

भक्ति ही एकमात्र लक्ष्य स्वात्माहन्ता चमत्कार जो ज्ञान का परम साध्य ही वही भक्ति की अन्तिम सीमा भी है। ज्ञान में बुद्धि के द्वारा परमार्थ का आकलन होता है और भक्ति में श्रद्धा द्वारा।

भक्तिर्लक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
तया वाथ दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम्।।

भक्ति, स्तोत्र, नमस्कार और द्वैतभाव

संवित् से अभिन्न जो मनो वेगात्मक अंश है। उसी को अर्पित करते समय भक्त मानों परमेश्वर को अपना सर्वस्व अर्पित कर देता है।

परा संवित् या परमतत्त्व या ईश्वर के प्रति उत्कर्ष बुद्धि परामर्श स्वरूप होती है और इसलिए यह मानस संवेदन रूप है और इसकी अभिव्यक्ति वाणी द्वारा स्तोत्र रूप में होती है। इसलिए भक्त के हृदय से परम तत्त्व का उत्कर्ष व स्वयं की क्षुद्रता स्तोत्रों में स्वतः निःसरित होती है। भक्त का आत्मनिवेदन यही है। अभिनवगुप्त के अनुसार निवेदन या अर्पण निश्चित रूप से विद्यामय अर्थात् ज्ञानात्मक होता है और शरीर, धन, द्रव्य दारा आदि का अर्पण भी उसी निश्चयात्मक ज्ञानरूपता से जुड़ा हुआ है। पूजा, हवन, सर झुकाना और साष्टाङ्ग प्रणिपात ये सारी क्रियाएँ उसी के उत्कर्ष परामर्श का अनुमान कराती है। ये सब औपचारिक अर्थ में ही नमस्कार या प्रणति कहलाती है मुख्य अर्थ में नहीं।

ततस्तु तन्नान्तरीयकत्वादेव शरीरधनदारादीनामपि तत्रार्पणं जायते इति पूजनहवनशिरोनमनाष्टाङ्ग-प्रणिपातनादितदनुमानहेतुतया उपचारात्प्रणाम इति व्यवह्रियते न मुख्यतया। (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीविवृत्ति*।, पृ. २२)

नमस्कार

समावेश अथवा भक्ति के लिए अनिवार्य नुति, नमस्कार अथवा वन्दन का अभिनवगुप्त के अनुसार अर्थ है- एकमात्र परमेश्वर पर केन्द्रित करके मन वाणी और काया की प्रह्वता अर्थात् विनम्रता। यह नमस्करणीय के उत्कर्ष से प्रेरित भी होती है और उसे सूचित भी करती है।

> **इह परमेश्वरं प्रति येयं कायवाङ्मनसां तदेकताविषयता नियोजना लक्षणा प्रह्वता सा नमस्कारस्य अर्थः।** (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीविवृत्ति*।, पृ.१८)
>
> **सा च तथा कर्तुम् उचिता प्रामाणिकस्य भवति, यदि सर्वतो नमस्करणीयस्य उत्कर्ष पश्येत।।** (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीविवृत्ति*।, पृ.१८)

प्रह्वीभाव-द्रुति-

> **प्रह्वता च उक्तरूपा भगवत्स्वरूपोत्कर्ष दर्शनेन.....व्युत्थानसमयसम्भाव्यमानस्य शरीरादिगतप्रमातृताभिमानोद्रेकस्य उपासनेन मायाप्रमात्रभिमानातिरेकन्यग्भावितः संविदात्मकस्वस्वरूपतायाः उनमग्नतात्मकः समावेशः।।** (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीविवृत्ति*।, पृ.७)

अभिनवगुप्त के अनुसार व्यवहार में नमस्कार का अभिप्राय अनिष्ट-परिहार या विघ्न विघात माना जाता है। यह तब सम्भव है जब हम सांसारिक प्रमाता को अखण्ड सत्ता से तोड़ कर देखते हैं तभी विघ्न आदि को अवकाश मिलता है। नमस्कार के प्रथम क्षण में ही तब शरीरगत प्रमातृता का अपलाप करते हुए परमेश्वर के स्वरूपगत उत्कर्ष का परामर्श किया जाता है वही परामर्श समावेश रूप होता है उस समय नमस्कर्ता समग्र विश्व के आत्मभूत संविद्रूप परमार्थ से एकाकार हो जाता है और उसके लिए किसी से किसी प्रकार के विघ्न की संभावना ही नहीं रहती।

"तत्र हि सति विश्वमपि स्वात्मभूतम् अभिन्नस्वतन्त्रसंविन्परमार्थं भवतीति कः कस्य कुत्र विघ्नः। (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीविवृत्ति*।, पृ.१८)"

भट्ट नारायण भक्ति के स्वरूप को समावेशात्मक मानते हैं किन्तु वे समावेश के स्थान पर उसके पर्याय आवेश और प्रवेश का ही प्रयोग करते हैं। उनके टीकाकार क्षेमराज ने अवश्य समावेश पद के प्रयोग के साथ ही इसके प्रत्यय का उपबृंहण भी किया है।

उत्पलाचार्य ने अपने स्तुति ग्रन्थ *शिव स्तोत्रावली* के साथ ही दार्शनिक कृतियों *ईश्वरप्रत्यभिज्ञा* का वृत्ति एवं विवृत्ति में समावेश के प्रत्यय को पूरी गम्भीरता के साथ प्रस्तुत किया है-

> **इह परमेश्वरं प्रति येयं कायवाङ्मनसा तदेकविषयतानियोजनलक्षणा प्रह्वता सा नमस्कारस्य अर्थः।** (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीविवृत्ति*।, पृ.१८)

अभिनवगुप्त की समस्त कृतियों चाहे वे स्तुतिग्रन्थ हो या दार्शनिक, तान्त्रिक हो या साहित्यशास्त्रीय वे अद्वयवाद और भक्ति के सामञ्जस्य पूर्वक समावेश की धारणा का स्वरूप स्पष्टतया विकसित होते हुए पूर्णता की ओर अग्रसर दिखाई देता है।

शिवाद्वयवादी भक्ति की विशेषता यह है कि यह परमतत्त्व की ईश्वर के रूप में भावना करते हुएभी दार्शनिक दृष्टि से विशुद्ध अद्वयवाद के प्रति अपनी प्रतिबद्धता बनाए रखती है। इस प्रकार भक्ति के लिए द्वैत की अनिवार्यता का नकार भी इसमें दिखाई देता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार पराद्वया भक्ति समावेशरूपिणी है। यही हमारा चरम प्राप्य है-देवस्तुति ध्यान पूजा, प्रणाम आदि सब इसी के उपादान या साधन हैं। इनका लौकिक स्वरूप भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के अनुसार अलग अलग है और दार्शनिक स्वरूप *परमार्थ सार* में निरूपित है।

समावेश

सम्यक् आवेशन अर्थात् चिदात्मबोध और कर्तृता की प्रधानतया स्थिति जिसमें प्रमेयता या परिमित प्रमातृता का गुणीभाव से विलय हो जाता है—

मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्य च चिदात्मनः।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम्।। (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ३. २. १२*)

सम्यगावेशनमेव हि तत्र तत्र प्रधानम् तत्सिद्धये तूपदेशान्तराणि। (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी*)

सम्यगावेश ही ज्ञान का मौलिक रूप है और वही प्रधान हैं शास्त्र की प्रमाणादि से सम्बन्धित अन्य प्रवृत्तियां इसी की सिद्धि के लिए हैं। इससे स्पष्ट है कि समावेश भक्ति और ज्ञान दोनों का स्वरूप विधायक तत्त्व अथवा लक्ष्य है। समावेश का सम्बन्ध जीवन के सामान्य अनुभवों अथवा व्युत्थान दशा में भी अपनी परमेश्वरता के अनुभव से है और यह बात सम्पूर्ण जीवन को पारमार्थिक दृष्टि से मूल्यवत्ता और सार्थकता प्रदान करती है। इस प्रकार समावेश का अर्थ है देह के बने रहने पर भी भगवन्मयता।

"समावेश सेयं द्वय्यपि जीवन्मुक्तावस्था समावेश इत्युक्ता शास्त्रे..... देहपाते तु परमेश्वर एवैकरसः इति कः कुत्र कथं समाविशेत्।"

जिन्हें हम स्तुति, प्रणाम, पूजा, हमारे ध्यान आदि विधियों के रूप में जानते हैं। वे सब अन्ततः हमारे देहादि प्रमातृभाव को गलाते हुए उसी समावेश अंश रूप है-

"समावेश-पल्लवा एव च प्रसिद्धदेहादिप्रमातृभावप्रह्वीभावभावनानुप्राणिता परमेश्वरस्तुतिप्रणामपूजाध्यान-समाधिप्रभृतयः कर्मप्रपञ्चाः।।" (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* २५८)

प्राचीन तन्त्र ग्रन्थों में से *मालिनी विजयोत्तर* तन्त्र में रुद्रशक्तिसमावेश भक्ति के प्रथम चिह्न के रूप में बताया है-

रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्र नित्यं प्रतिष्ठितः।
तत्रैतत्प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला। २.१३-१४

इस प्रकार यहाँ भक्ति और समावेश में तादूप्य न मान कर लिङ्गलिङ्गिभाव माना है।

विज्ञानभैरव में समावेश की अद्वयात्मक धारणा अनेक रूपों में प्रवेश, आवेश, आवेशन, समावेश, समाविष्ट आदि शब्दों का अनेकत्र प्रयोग—

रुद्राक्तिसमावेशस्तत्क्षेत्रं भावना परा।
अन्यथा तस्य तत्त्वस्य का पूजा कश्च तृप्यति।।
स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्रसारः स्वात्मा हि सर्वतः।
आवेशनं तत्स्वरूपे स्वात्मनः स्नानमीरितम्।। *विज्ञान भैरव* १४८-९

अपरा भक्ति साधनभूता भक्ति की अवस्था है, यह अपर शक्तिपात का क्षेत्र है यह कृत्रिम, बाह्य एवं उपचारसहित उपासना पद्धति की भूमि है। इसके उपाय के रूप में विविध प्रकार की दीक्षा, अभिषेक आदि कृत्य हैं। इनका सविस्तार वर्णन अभिनवगुप्त ने किया है। अन्ततः अपराभक्ति के उपर्युक्त सभी प्रकार परसंवित्समावेश अथवा शिवैकात्म्य की अनुभूति की ओर ले जाने में सहायक होते हैं और इसी में इनकी सार्थकता भी है। अभिनवगुप्त का कहना है कि विभिन्न भावौद्यों या पूजा द्रव्यों की स्वतन्त्र, निर्मल, अनन्त भैरवीय चिदात्मतत्त्व से संगति बैठाना ही पूजन है-

पूजा नाम विभिन्नस्य भावौद्यस्यापि संगतिः।
स्वतन्त्रविमलानन्द भैरवीय चिदात्मना।। *(तन्त्रालोक ४.१२१)*

भैरवीय चिदात्म तत्त्व से संगति या समावेश ही परा भक्ति है। यही साध्य है। यह पराशक्तिपात स्वरूपा हैं यह परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति अथवा अविच्छिन्न पारमेश्वर्य से एकाकारता की चरम समावेशावस्था है। इसमें पूजा, पूजक और पूज्य की त्रिपुटी का लय हो जाता है। अभिनवगुप्त ने अपनी अनुत्तराष्टिका[३] में ''पूजापूजकपूज्यभेदसरणिः केयं कथा अनुत्तरे'' कह कर इसी दशा की ओर संकेत किया है। इस अवस्था में भक्त और भगवान् का द्वैत समाप्त हो जाता है और दोनों ही प्रणम्य हो उठते हैं।[४] यह सम्पूर्ण अद्वैत की स्थिति है जिसे अभिनव स्वयं परापूजा कहते हैं।[५] *विज्ञानभैरव* के अनुसार भी निर्विकल्प तत्त्व में श्रद्धापूर्वक लीन हो जाना ही वास्तविक पूजा है।[६] इस प्रकार पराभक्ति संवित् के परिपूर्ण स्वरूप के दिग्दर्शन अथवा अपने माहेश्वर स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान स्वरूपा मानी गई है।

सन्दर्भ

१. सर्वथा नैर्मल्यात्मा प्रसादो भगवद्रूपता तादात्म्यं मोक्ष एव।
— ईश्वरप्रत्याभिज्ञाविवृत्ति विमर्शिनी I, पृ. २५६

२. भवद्भक्त्यावेशा द्विशदतरसञ्जातमनसाम्।
क्षणे नैषावस्था स्फुटमधिवसतये च हृदयम्।
— अभिनवगुप्त का अनाम स्तोत्र, ७

३. के. सी. पाण्डे की पुस्तक *अभिनवगुप्त : एक हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी* के परिशिष्ट 'सी' में उद्धृत, पृ. ९४३

४. भवद्भक्त्स्य संजातम्भवद्रूपस्य मेऽधुना।
त्वमात्मरूपं संप्रेक्ष्य तुभ्यं मह्यं नमो नमः।।
('महापदेशविंशतिकम्' के. सी. पाण्डे की पुस्तक
'अभिनव गुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी'
में परिशिष्ट 'सी' से उद्धृत, पृ. ९४६

५. एवमेव परा पूजा सर्वावस्थासु सर्वदा।
ऐक्यबुद्धया तु सर्वेशे मनो दैवे नियोजयेत्।
— वही, पृ. ९४७

६. पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादाराल्लयः।।
— विज्ञानभैरव, १४४

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

कुण्डलिनी जागरण की विधियों में प्राप्त समस्याओं का निवारण

पं .रमेशचन्द्रशर्मा 'मिश्र'

महाशक्ति कुण्डलिनी की जागृति हेतु कई प्रयोग विधान तन्त्रशास्त्रों में वर्णित एवं छिपे हुए है। *कुण्डलिनी स्तोत्र, कुण्डलिनी कवच, कुण्डलिनी सहस्रनाम* एवं कुण्डलिनी शक्ति को महिमा मण्डित करते हुए कई सिद्धान्तों का वर्णन भी मूल तन्त्र ग्रन्थों में है।

कुण्डलिनी जागरण बिना गुरु की शक्तिपात शक्ति के होना कठिन है, गुरुमुख से कुण्डलिनी जागरण की विधि प्राप्त कर उसके लिये निरन्तर प्रयासरत रहना चाहिये।

परमशक्ति कुण्डलिनी सहस्रार में परमशिव के साथ रमण करती है। यह अनन्तशक्ति अनेक लोकों का निर्माण करने हेतु नीचे उतरती है। अनेक लोकों का षट्चक्ररूपों में निर्माण करती हुई मूलाधारचक्र में आकर वहाँ स्थित शिवलिङ्ग के ३ लपेटे लगाकर शिव से आलिङ्गनबद्ध होकर विराजमान रहती है, अपना मुँह शिवलिङ्ग पर रखती है इसलिए साढे आवृत्ति मानी जाती है। इसीके सिद्धान्त से शिव के त्रिपुण्ड आकार का तिलक किया जाता है।

कुण्डलिनी अनन्तशक्ति (शून्य) रूपा है, लोकों के निर्माण में भी अनन्तशक्ति (शून्य) का व्यय होता है शेषशक्ति (शून्य में से शून्य घटाने पर शून्य ही शेष रहता है) भी अनन्त ही है जो मूलाधाचक्र में सुप्त (शान्त) रूप में विराजमान रहती है।

तन्त्र साधना कहती है कि कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधारचक्र से उठाकर षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार में ले जाकर शिव से मिलन कराये तब उनकी विपरीत रति से अमृत का स्राव होता है यही पापमोचनी शिवजटा से निकलने वाली गङ्गा है जिसमें साधक स्नान करे या पान करे तो जीवन्मुक्त होकर मोक्षगामी हो जाता है।

कुण्डलिनी जागरण की विधियाँ

कुण्डलिनी जाकरण सम्बन्धी कई विधियाँ हैं उनमें से कुछ विधान इस प्रकार है—

१ .मातृकावर्णों एवं मन्त्र के संयोजन से षट्चक्रों में जप करना

प्रत्येक चक्र में वर्णों का स्थान है उनके अनुसार मन्त्र का संयोजन कर उस स्थान में जप करे।

सर्वप्रथम आप सहस्रार में गुरु का ध्यान १ मिनिट पर्यन्त करिये। यदि सहस्रार में ध्यान का अभ्यास नहीं होता है तो कपाल केन्द्र पर अंगुष्ठ रखे और अंगुष्ठ स्थान पर ध्यान जप करे। इसके बाद चित्त को नीचे लाकर भ्रूमध्य आज्ञाचक्र में आधा मिनट तक चिन्तन करे, अब कण्ठ स्थान विशुद्धि चक्र में वाम से दक्षिणावर्त स्वर मातृका के संयोजन से १६ बार मूल मन्त्र से जप करे यथा—

अं मूल मन्त्र, आं मूल मन्त्र, इं मूल म , ईं मूल मन्त्र, उं मूल मन्त्र, ऊं मूल मन्त्र, ऋं मूल मन्त्र, ॠं मूल मन्त्र, ऌं मूल मन्त्र, ॡं मूल मन्त्र, एं मूल मन्त्र, ऐं मूल मन्त्र, ओं मूल मन्त्र, औं मूल मन्त्र, अं मूल मन्त्र, अः मूल मन्त्र अब हृदय कमल अनाहत चक्र में कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं प्रत्येक के साथ मूल मन्त्र लगाकर १२ बार जप करे। पश्चात् नाभि मणिपूर चक्र में डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं प्रत्येक के साथ मूल मन्त्र का १० बार जप करे। लिङ्गमूल से कुछ ऊपर स्वाधिष्ठान चक्र में बं भं मं यं रं लं प्रत्येक के साथ मूलमन्त्र का ६ बार जप करे पश्चात् गुदाद्वार मूलाधारचक्र में वं शं षं सं प्रत्येक के साथ मूलमन्त्र का चार बार जप करे।

अब मूलाधार में मूलमन्त्र से कुण्डलिनी का चिन्तन करे। सर्पिणी रूपिणी कुण्डलिनी के उत्थान की कल्पना करे तथा कुण्डलिनी को प्रत्येक चक्र के प्रत्येक दल में दक्षिण से वामावर्त करते हुए विलोम मातृका युक्त मन्त्र जप करे।

मूलाधार में– सं षं शं वं, स्वाधिष्ठान में– लं रं यं मं भं बं, मणिपूर में– फं पं नं धं दं थं तं णं ढं डं, अनाहत में–ठं टं ञं झं जं छं चं ङं घं गं खं कं, विशुद्धचक्र में–अः अं औं ओं ऐं एं ऌं लृं ॠं ऋं ऊं उं ईं इं आं अं जप करे। आज्ञाचक्र के दोनों नेत्रों में हं ळ तथा भ्रू मध्य में क्षं के साथ मूल मन्त्र का जप करे। क्षं माला के सुमेरु के समान कार्य करता है।

इसके बाद चित्त को ऊपर ले जाते हुए सहस्रार में मातृकावर्णों के साथ मूलमन्त्र का जप कर, सहस्रार में ५०-५० दल के २० आवर्त है कम-से-कम ५० बार जप करे तो गहरा ध्यान लगेगा। भावना करे कि कुण्डलिनी परमशिव से आलिङ्गन करके विपरीत रति युक्त दोनों से संयोग से अमृत का स्राव हो रहा है। यह कुण्डलिनी शक्ति उस अमृत का पान करके नीचे उतरते हुए सब चक्रों को सिंचन करती हुयी नीचे उतर रही है। अतः अब अनुलोम क्रम से वर्णमातृका के साथ मन्त्र जप आज्ञाचक्र, विशुद्धचक्र, अनाहतचक्र, मणिपूरचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र तथा मूलाधार में जप करते हुए कुण्डलिनी को नीचे लाये।

इस प्रकार ४-५ बार माला का क्रम करे। कुण्डलिनी उत्थान की प्रक्रिया से वायु ऊपर उठेगी, नशा भी आएगा तथा थकान का भी अनुभव होगा। यदि नशा पूरा नहीं उतरता है तो १०-१५ मिनट के लिए वहीं सो जाये, कुछ देर में सामान्य स्थिति होने पर उठ जाये।

२ .ध्यान का क्रम परिवर्तन

सामान्यत: सभी स्थानों पर कहा जाता है कि जप के अभ्यास द्वारा कुण्डलिनी को मूलाधार से ऊपर उठाये एवं सुषुम्ना मार्ग द्वारा ऊपर सहस्रार में ले जाये। किन्तु इस प्रक्रिया में कुण्डलिनी उत्थान व चक्र जागृति में २-३ वर्ष लग जाते हैं।

मेरे अनुभव से इस प्रक्रिया को अधिक सरल बनाने के लिए इसके मूल स्थान सहस्रार में जप करे, शिव, गुरु का ध्यान करे तथा अमृतस्राव की कल्पना करे उस अमृत से सब चक्रों में मन्त्र जप से सिंचन करते हुए मूलाधार में कुण्डलिनी का तर्पण करे, फिर पुन: नीचे से ऊपर के चक्रों में जप करते हुए कुण्डलिनी को ले जाये। इस क्रिया से जल्दी ही अनुभूतियाँ होने लगेगी।

पहले वाली क्रिया में ध्यान के समय पहले पैर फिर हाथ उसके बाद ऊपरी अङ्ग सुन्न होने लगते हैं और ध्यान लगने लगता है। कमर भी कुछ अकड़ी हुई महसूस होगी तथा कोई वस्तु व दबाव रीढ की हड्डी में महसूस होगा। लेकिन दूसरी विधि में इस प्रकार का अनुभव कभी नहीं होगा।

३ .विविध देवताओं की साधना में पार्थक्य

अलग-अलग देवताओं की क्रम दीक्षा में मन्त्र दीक्षा का अलग-अलग विधान है तथा अलग-अलग महाविद्याओं की अनुभूतियाँ भी अलग-अलग होती हैं।

मन बड़ा चञ्चल है अत: जब तक मन व विचारों का स्तम्भन नहीं होगा तब तक ध्यान नहीं लगेगा। अत: मन व प्राणवायु के स्तम्भन के लिए बगलामुखी की उपासना साधना के प्रारम्भ में उचित मानता हूँ। इसके मन्त्र जाप से वायु का स्तम्भन होगा, कुण्डलिनी जागरण होगा, नाभि में बन्ध लगकर पेट अन्दर जाने लगेगा, रीढ की हड्डी में भी खिंचाव स्वत: होगा। वायु आगे बढ़ेगी तो विशुद्धचक्र में दबाव बनेगा, ठोडी आगे झुककर हँसली पर गहरा दबाव बनेगा मानो हड्डी टूट जायेगी। कुछ समय बाद जिह्वा अपने आप उलट कर तालु का स्पर्श कर खेचरी मुद्रा की स्थिति स्वत: ही बनने लगेगी।

त्रिपुरसुन्दरी की उपासना में हृदयचक्र जल्दी खुलता है व ध्यान जल्दी लगने लगता है। भ्रूमध्य तक ध्यान की गति सामान्य रहती है, कनपट्टी के बाद ध्यान आगे बढ़ता है तो ध्यान की गति तीव्र हो जाती है तथा चित्त राकेट की गति के समान सहस्रार की ओर दौड़ता है।

काली उपासना में अलग-अलग उपासकों के अलग-अलग अनुभव है। काली काल को अपने में समाहित कर लेती है अत: इसकी उपासना में पञ्चतत्त्वों का एक-दूसरे में विलीनीकरण जल्दी हो जाता है। जैसे पृथ्वी तत्त्व का जल तत्त्व में, जल तत्त्व का अग्नि तत्त्व में, अग्नि का वायु में तथा वायु तत्त्व का आकाश तत्त्व में विलय होकर शरीर बोध विहीन हो जाता है और ध्यान लगने लगता है।

इसी प्रकार स्थूल शरीर सूक्ष्म में, सूक्ष्म शरीर महासूक्ष्म में फिर कारण, महाकारण में विलीन हो जाता है।

कभी-कभी साधना में ऐसा अनुभव होता है कि शरीर विलुप्त होता जा रहा है और धीरे-धीरे पूरा शरीर शून्य के समान लगने लगता है। अत: शरीर शून्य अनुभव होने से शरीर में अकड़न, ध्यान की तीव्रता महसूस होगी। मैं कहाँ हूँ? मेरा शरीर कहाँ है? इसका भान नहीं होता है।

कई बार कनपट्टी के पास में रोधनी नाड़ी पर वायु व ध्यान अटक जाता है। अत: उस समय छिन्नमस्ता देवी की उपासना करनी चाहिए।

४ .मन्त्राक्षर का प्रभाव

बीजाक्षर जप पर कई विद्वानों ने प्राथमिकता दी है। तन्त्र ग्रन्थों में एकाक्षरी मन्त्रों के लिए १२ लाख जप करने पर सिद्धि के लिए कहा है। यदि हम किसी हल्की वस्तु को फेंकते हैं तो उसे दूर तक फेंक सकते हैं और भारी वस्तु को थोड़ी दूर तक ही फेंक सकेंगे। इसी प्रकार छोटे मन्त्रों की तरङ्गे अधिक कम्पनमय होती है जिससे मन्त्र व चक्र जल्दी जागृत होते हैं। बड़ा मन्त्र देरी से सिद्ध होता है तथा चक्र भी देरी से जागृत् होते हैं परन्तु सिद्ध होने पर अधिक प्रभावशाली व अनेक कामनाओं की पूर्ति करने वाला होता है।

'मकार' व 'ङकार' का उच्चारण

एकाक्षरी बीज मन्त्रों के उच्चारण के विषय में अधिकांश साधकों में यह संशय रहता है कि 'म'कार का उच्चारण करें या 'ङ'कार का उच्चारण करे। यदि हम 'म'कार का उच्चारण करते हैं तो मुँह से वायु नीचे की ओर जाती है जो इस भौतिक जगत् में भौतिक कामनापूर्ति हेतु तरङ्गों को स्पन्दन व बहिर्गमन होता है। यदि 'ङ'कार का उच्चारण करते है तो वायु एवं मन्त्र की तरंगे ऊर्ध्वगमन करती है जो निष्काम साधना तथा देवता की प्रसन्नता द्वारा ऊर्ध्वलोकों से संपर्क करती है अर्थात् लक्ष्मी प्राप्ति या अन्य भौतिक कामना है तो 'म'कार का उच्चारण करे तथा निष्काम भक्ति व तन्त्रसाधना व ऊर्ध्वरेता होने के लिए 'ङ'कार का उच्चारण करे।

५ .अजपाजप

कोई भी मन्त्र हो उसकी ४-५ लाख जप संख्या पर ही विशेष प्रभाव नजर आता है। अधिक जप करने पर देवता का स्मरण हमेशा बना रहता है तथा मन्त्र का अभ्यास भी अजपाजप के रूप में सदैव बना रहता है।

जप मानसिक रूप से करना चाहिये। बोलकर उच्चारण करने से मन्त्र जप करते समय जिह्वा के स्पन्दन से जो तरङ्गे उत्पन्न होती है वे बाहर अन्तरिक्ष में चली जाती है। मौन जप करने से मन्त्र जप के साथ-साथ जिह्वा आंशिक रूप से हिलती रहती है और जो स्पन्दन की तरङ्गे उत्पन्न होती है वे मुँह में दबाव बनाती है। नाक कान गले का आपसी सम्बन्ध होने से वे तरङ्गे कान से टकराकर नाद को खोल देती है तथा नाद सुनाई

देने लगता है। गले में स्पन्दन या खुजली महसूस होती है जिसका प्रभाव विशुद्ध चक्र पर पड़ता है। जब तरङ्ग मुँह में तालु की ओर जाती है तो जिह्वा उलट कर तालु के लगकर खेचरी मुद्रा बना देती है और हमारे सहस्रार तक जाने में सरलता हो जाती है।

स्थूल शरीर द्वारा अजपाजप अभ्यास करते हैं तो धीरे-धीरे नाद सुनाई देने लगता है तब मन्त्र को उस नाद के संगीतमय सुनने का अभ्यास करे। अब आप जपकर्ता नहीं श्रोता हो जाते हैं अर्थात् अब हमारा स्थूल शरीर के बजाय सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध होने लगा है। धीरे-धीरे नाद बहुत धीमा होते-होते लुप्त हो जायेगा तथा ज्योति व अन्य लोगों के दर्शन होने लगते हैं अर्थात् अब आप श्रोता के स्थान पर द्रष्टा हो जाते हैं। सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध महासूक्ष्म शरीर से होने लगता है।

आगे अभ्यास करते रहना चाहिए व गुरु से संपर्क कर समाधान करते हुए सहस्रार भेदन की क्रिया समझिये।

कुण्डलिनी जागरण के लक्षण

मन्त्र जप व ध्यान प्राणायाम के अभ्यास से मूलाधार में स्पन्दन व फड् फड् होने जैसा अनुभव होता है। रीढ की हड्डी में चीटियाँ चलने जैसा महसूस होता है क्योंकि सुषुम्ना मार्ग से वायु धीरे-धीरे ऊपर उठती है।

गर्दन के पीछे कुकुदी में खिंचाव होने से यह हड्डी ऊपर उठ जाती है। प्राणवायु जब सहस्रार की ओर गमन करती है तो कपाल में खुजली या चीटियाँ रेंगने जैसा महसूस होता है।

कपाल के दो इंच ऊपर हवा का खिंचाव महसूस होता है मानो कोई सैक्शन पम्प से हवा खींच रहा हो। किसी-किसी को इस खिंचाव का केन्द्र छह इंच से एक फीट तक अनुभव होता है।

जिस प्रकार लकड़ी के बीच में से कोई सहारा देकर लटका दें तो और नीचे के भाग को हिलाये तो ऊपर का भाग विपरीत दिशा में हिलेगा। उसी प्रकार जब कुण्डलिनी ऊपर उठकर रीढ की हड्डी के निचले स्तर पर चोट करेगी तो ऊपर का शरीर हिलेगा। अत: ध्यान योग साधना में यह वेग बढ़ जाता है और व्यक्ति को आवेश होता है और जोर-जोर से खिसकने व मेंढक की तरह फुदकने लगता है। कभी-कभी अपने में विशेष जोश व शक्ति का आवेश महसूस करता है तब 'हूम हूम' की आवाज करने लगता है या सिंह के समान गर्जने लगता है।

ऐसी परिस्थिति में परिवार वालों को यह भ्रम हो सकता है कि किसी आत्मा का आवेश तो नहीं हो गया है। परन्तु घबराये नहीं पीठ में गर्दन से नीचे की ओर मालिश करे, कान के पीछे की नसों को नीचे की ओर खींचे धीरे-धीरे ध्यान उतर जायेगा।

साधक का अच्छा ध्यान लग जाता है तो वह द्रष्टा हो जाता है उस समय आप उसकी आँखों की पुतलियों का निरीक्षण करे उसकी आँखों के हीरे ऊपर की ओर होंगे मानो अन्दर किसी ऊपरी वस्तु को देख रहा है।

दीक्षा या शक्तिपात के बाद कभी-कभी नींद के समान नशा ८-१० दिन तक हमेशा बना रहता है। कभी-कभी शरीर इतना हल्का लगता है मानो पैर जमीन पर नहीं है।

जब मन पूर्ण अंत:स्थ होकर ध्यानमग्न हो जाता है तब बाह्य वातावरण सर्दी, गर्मी का भी एहसास नहीं होता है। गर्मी में हम कमरे में ए.सी. की इच्छा रखते है तो रेगिस्तानी इलाके में गर्मी में खुले आँगन में पञ्चाग्नि तपस्या करना कितना कठिन होगा?

मेरे गुरुजी श्री नथमल जी दाधीच पञ्चाग्नि तपस्या करते थे तब उनका ध्यान इतना लग जाता था कि चार महीने में धीरे-धीरे उनका कपाल कुण्डलिनी दबाव से २ इंच ऊपर उठ जाता था तथा लोग उनकी मृत्युभय की कल्पना करने लगते थे।

हिमालय में माइनस आठ डिग्री तापमान में नग्न शरीर तपस्या करते हुए एक साधु का चित्र मैंने अपनी पुस्तक 'साधक का सत्य' में दिया है।

कुण्डलिनी जागरण की समस्याएँ एवं समाधान

* ध्यान जब अच्छा लग जाता है तो प्राणवायु का ऊर्ध्वगमन होता है। जब नीचे उतारते हैं तो कभी-कभी वायु दबाव मूलाधार पर पड़ता है कि गुदा द्वार फट जायेगा।

  समाधान—ध्यान को धीरे-धीरे करके १०-१५ मिनिट में नीचे उतारे एवं धीरे-धीरे हाथ-पैर का संचालन करे ध्यान उतरने पर उठे।

* किसी का स्वाधिष्ठान चक्र पर दबाव बढ़ने के कारण कामवेग तीव्र हो जाता है।

  समाधान—यह एक से डेढ़ वर्ष में कम होगा, भोग में योग का अभ्यास करे, ऊर्ध्वरेता सम्बन्ध में गुरु से ज्ञान प्राप्त करे।

* किसी-किसी को मणिपूर में दबाव इतना हो जाता है कि नाभि (धरण) की शिकायत व स्त्रियों को गोले का दर्द होने लगता है।

  समाधान—ऐसी स्थिति में ज्यों ही बन्ध लगने लगे, ध्यान को ऊपर के केन्द्रों की ओर खींचते हुए जप करना प्रारम्भ कर दें।

* किसी-किसी व्यक्ति को जप करते ही भूख लगती है।

  समाधान—ऐसे व्यक्ति अल्पाहार लेकर ही जप प्रारम्भ करे।

* एक संन्यासी जी बगलामुखी के जप किये। उन्हें नाभि में अग्नि लगने लगी। धीरे-धीरे गलेमें गर्मी जलन होने लगी। गुलकंद खाने पर कुछ कम हुयी। बाद में ऐसा महसूस हुआ कि कानों में कोई अलाव डाल रहा हो। उन्होंने हमारे पास आकर दीक्षा ली हमने उसके केन्द्रों पर मनोयोग किया तो एक कान में तो उसी समय आराम आ गया व ३ महीनों में धीरे-धीरे स्वस्थ हो गये। हमने उसे सहस्रार से मूलाधार तक जप करने को कहा, मूलाधार से सहस्रार के लिए मना किया।

* जब अजपाजप का अभ्यास हो जाता तो निद्रा में भी ध्यान लग जाता है। गर्मी के दिनों में भोजन करने के बाद आलस्य आता है उस समय ध्यान लगाकर सोये तो गहरा ध्यान लगता है। किसी केजगाने पर एकदम जल्दी नहीं उठे क्योंकि वायु के एकाएक नीचे उतरने से हृदय पर दबाव पड़ता है, पसीने आते हैं, घबराहट होती है अत: चित्त को धीरे-धीरे नीचे उतारे

* नाभि में गर्मी होने से कब्ज की शिकायत हो सकती है।

  समाधान—योग एवं औषधोपचार करे।

* जब गर्दन पर आकर वायु रुक जाये ठोडी का दबाव हँसली पर पड़े तो वायु को गर्दन के पीछे से चोटी के पास से कपाल तक लाये।

  सेना के एक कप्तान की ड्यूटी अधिकांशत: हिमालय में लगती थी, साधु सन्तों की संगत से उसने ध्यान लगाना सीख लिया। उसकी प्राणवायु कन्धें के पास गर्दन पर अटकजाती थी और उसका दबाव सीने पर हाथों परआ जाता। सीना फूलजाता और हाथ कठोर हो जाते जैसे कोई पहलवान अपने सीने का प्रदर्शन करता है। १०-११ वर्ष में कई साधु, लामा, जापानी योगियों से मिला किसी ने कारण नहीं बताया। यही कहा कि तुमसे ध्यान लगाते समय कोई गलती हुई है।

  एक दिन वे सपत्नीक हमारे पास आये और इस बारे में चर्चा कर अपनी समस्या बताई। हमने उन्हें ध्यान लगाकर बताने हेतु कहा। तब उन्होंने ध्यान लगाया जब उनका शरीर अकड़ने लगा तब हमने मनोयोग से कान के पीछे की नस को ऊपर खींचा और गर्दन से चोटी की ओर मालिश करके कपाल तक वायु को पहुँचाया। उन्हें उसी समय लाभ प्राप्त हो गया। बाद में वे २ घण्टे भी ध्यान लगाते हैं तो कभी समस्या का सामना नहीं करना पड़ता।

* गर्मी की पीड़ा होने पर पीठ व कनपटी पर खस का इत्र भी लगा सकते हैं।

* अनुष्ठान, पूजा के समय ऐसा प्रतीत हो कि वेल्डिंग की लाइट के समान तीव्र प्रकाश का आँखों पर आभास हो और दूसरे दिन आँखें खोलने में परेशानी हो।

  समाधान—नेत्रों को गुलाबजल से धोयें, श्रीसूक्त से मन्त्रित जल से आँखें धोये।

* उक्त रक्तचाप के समय वायु के दबाव से शरीर में भारीपन व तनाव बढ़ता है। ज्वर होने पर विश्राम कर रहे हैं तो अजपाजप के अभ्यास के कारण ध्यान लगने लगता है एवं भ्रूमध्य के पास से गर्मी कपाल की ओर बढ़ने लगती है।

  समाधान—दोनों ही परिस्थितियों में मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त कुण्डलिनी प्रक्रिया का ध्यान नहीं करे बल्कि सहस्रार में ध्यान लगाकर अमृत की कल्पना करे उस अमृत से अपने शरीर का सिञ्चन की कल्पना करे इससे शरीर ठण्डा होगा।

* ध्यान लगाने पर शरीर में अत्यधिक गर्मी उत्पन्न होना जिससे ए.सी. चलाने की आवश्यकता महसूस हो।

  समाधान—इसके निदान हेतु सहस्रार से मूलाधार तक ध्यान का अभ्यास करे।

* किसी-किसी साधक के भ्रूमध्य में अत्यधिक दबाव पड़ता है जैसे की नेत्र अन्दर धस रहे हो तथा सिर फटता है।

  समाधान—कानों में उँगली डालकर नाद सुनने का अभ्यास करे जिससे नाद सहस्रार में चढ़ेगा पीड़ा कम हो जायेगी।

* तनाव व अनिद्रा वर्तमान युग की कड़ी समस्या है, इससे आज अधिकांश व्यक्ति व्यथित है।

  समाधान—मनुष्य को विचार शून्य होकर ही सोना चाहिए, विचार आते रहने पर न तो निद्रा आयेगी और न ही ध्यान लगेगा। अत: सोते समय शरीर को ढीला छोड़कर विचार शून्य होकर ध्यान लगाकर सोये।

  चिन्तायुक्त समय सहस्रसार में ध्यान नहीं लगेगा अत: चित्त को नीचे लाये। इस समय इष्ट का हृदयस्थल में जप करे इससे हृदय पर हल्का दबाव पड़ेगा और निद्रा आ जायेगी।

  अन्य प्रयोग—मस्तिष्क के अग्रभाग में वर्तमान तथा पृष्ठभाग में प्राचीन घटनाओं का स्मरण रहता है अत: मस्तिष्क के पृष्ठ भाग में जप करने से मस्तिष्क विचार शून्य हो जायेगा और निद्रा आने लगेगी।

व्यक्ति को अपनी समस्या का समाधान ईश्वर पर छोड़ देना चाहिए इससे मन हल्का हो जाता है।

साधना व विश्वास

भारत तन्त्र साधना व धर्म चर्चा में विश्वगुरु रहा है। परन्तु जिस प्रकार तीर्थ में निवास करने वाले उसका आदर कम करते हैं उसी प्रकार बाहरी व्यक्ति हमारे धर्म का अधिक सम्मान करते हैं और भारत में अनेकानेक पन्थ, मार्ग, सम्प्रदाय, बहुमत, बहुग्रन्थ होने से बहुतर्क भी है।

यदि कोई व्यक्ति किसी गुरु के पास जाता है तो उसके मन में उस गुरु के प्रति आन्तरिक रूप से तर्क करता है, जैसे—यह विधान तो मैंने भी पढ़ा है, ये पुस्तकें तो मेरे पास भी है। वह व्यक्ति उस गुरु की महत्ता व तपस्या बल को नहीं समझता है।

मैंने अनुभव किया है कि भारतवासी मन्त्र दीक्षा तो ले लेते हैं परन्तु उसको सिद्ध करने के लिए पूर्ण रूप से परिश्रम नहीं करते। विदेश से जो भी व्यक्ति धर्म, शास्त्रों को समझने के लिए आते हैं वे शोध के दृष्टिकोण से आते हैं, हमारे मन्त्र व देवता में हमसे अधिक विश्वास रखते हैं तथा जितनी जप संख्या उन्हें लाखों में बताई जाती है उतनी संख्या वे पूर्ण परिश्रम से करते हैं।

आस्ट्रेलिया के मेलबर्न चर्च के पादरी जॉन डूपूचे का यह मानना है कि मरियम व माँ काली एक ही शक्ति है, उसने यहाँ आकर काली की दीक्षा हमसे ग्रहण की और पूजा का विधान सीखा, काली विधान से मरियम की पूजा की और उसने बताया कि 'मैं यह अनुभव करता हूँ कि कालीअब मेरे बहुत नजदीक है।'

रूस के मत्स्ये नाथ ने पहले नाथ सम्प्रदाय से दीक्षा प्राप्त की पश्चात् तन्त्रमार्ग में प्रवेश के लिये त्रिपुरसुन्दरी की दीक्षा हमसे प्राप्त की। पाँच वर्ष में उसने करीब ९० लाख जप सभी मन्त्रों के कर लिये उसका कहना है कि "मैं अलौकिक आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।"

बेलारूस के प्रहलाद (एन्टोन प्रोहोव) ने काली के त्र्यक्षरी मन्त्र की दीक्षा प्राप्त की व वाराही मन्त्रों का भी जाप किया। एक दिन उसका ई-मेल आया कि "वाराही के दूसरे पुरश्चरण के मध्य एक श्वेत प्रकाश ने मेरे मूलाधार में प्रवेश किया पश्चात् वह प्रकाश मेरे मूलाधार से सहस्रार तकगया। कुछ देर में वह प्रकाश मेरे समस्त शरीर में व्याप्त हो गया, मैं हिल नहीं सका तथा १० मिनिट तक ऐसी ही स्थिति रही।"

मत्स्ये नाथ ने एक बार बताया कि "मेरा ध्यान सहस्रार से नीचे उतर रहा था, तब मैंने आपका स्मरण किया तब मेरे बांयी ओर से एक प्रकाश आया और सहस्रार में झटका लगा और मेरा चित्त नीचे उतर गया।"

अपने देश में शोध व वैराग्य हेतु साधना कम करते हैं वरन् भौतिक समस्याओं के निदान हेतु मन्त्र जप, ईश्वर का स्मरण अधिक करते हैं।

जिन व्यक्तियों का मार्गदर्शन जिसके द्वारा होना होता है भगवती उसे वहाँ पहुँचा देती है। हमारे पास आने वाले कई व्यक्ति बताते हैं कि हमें इस तरह के संकेत प्राप्त हुये है जिसके कारण आपके पास आये हैं।

माँ राजराजेश्वरी से मेरी यही कामना है कि सबका मार्गदर्शन कर कल्याण करे।

बस स्टेण्ड के पीछे, छाबड़ा कॉलोनी
मदनगंज-किशनगढ़ (जिला-अजमेर-राजस्थान) ३०५८०१

A PHILOSOPHICAL ANALYSIS OF THE NOTION AND GENDER OF AVALOKITEŚVARA IN BUDDHIST TANTRA AND ITS ŚAIVA-ŚĀKTA ORIGINS

AnubhavVarshney

The aim of this paper is to bring forth some key aspects pertaining to the notion of Avalokiteśvara in Buddhist tantra, highlighting an intriguing yet puzzling idea about the gender of Avalokiteśvara. In the first part of the paper I seek to introduce the various interesting accounts about Avalokiteśvara in Buddhist literature and the aforesaid intriguing idea. In the latter half of this write up some humble observations have been made regarding the parallels of Avalokiteśvara in Vedic religion, thus making an attempt to dismantle or dissolve the puzzle, underscoring the possibility of a Vedic or Hindu origin of the most celebrated deity in Later Buddhist tantra.

(1)

Notion of Avalokiteśvara and the basic idea

Avalokiteśvara is perhaps the most revered deity in Buddhist tantraVajrayāna and even early Mahāyāna; nevertheless in some schools of Theravāda as well he is held in great esteem. The abundant religious and philosophical literature in Later Buddhism presents vivid accounts of Avalokiteśvara. *Saddharmapuṇḍarikasūtra, Kāraṇḍavyuhasūtra, Prajñāpārmitāhṛdayasūtra, Cundidhāraṇisūtra* are some of the earliest sources, that present an account of Avalokiteśvara. The 24th chapter of *Saddharmapuṇḍarikasūtra*, presents in details the powers, qualities of Avalokiteśvara, as spoken by Buddha to Akshayamati [it might be noted that there lies a dispute on the number of chapters and chapterization scheme of the text, the details of which might not be of much use to mention here].

Saddharmapuṇḍrikasutra[1] depicts Avalokiteśvara as a bodhisattva who perfects karuṇā and is the epitome of virtues like care, empathy and compassion. As per *Saddharmapuṇḍrikasūtra*, Avalokiteśvara perceives the laments of bhutmātra (all sentient beings) and as a response works incessantly to their rescue. He hears, sees, constantly thinks and infallibly destroys all the grief and sufferings of living beings on earth:

Śravaṇo·tha darśano·pi ca anupurvaṃ ca tathānusmṛtiḥ

Bhavatīhaamoghaprāṇināṃ sarvaduḥkhabhavaśokanāśakaḥ[2]

Saddharmapuṇḍarikasūtra is full with praise for the virtues of Avaokiteśvara. If one is caught in fire, dreadful ocean, thunderstorm, surrounded by host of enemies, one just needs to remember Avalokiteśvara:

Saci agnikhadāya pātayed ghātanārthāya praduṣṭamānasaḥ,
Smarato avalokiteśvaraṃ abhiṣikto iva agniḥ śāmyati.
Saci sāgaradurgi pātayennāgamakarasurabhūta ālaye,
Smarato avalokiteśvaraṃ jalarāje na kadācitsīdati.
Saci merutalāttu pātayed ghātanārthāya praduṣṭamānasaḥ,
Smarato avalokiteśvaraṃ sūryabhūto va nabhe pratiṣṭhati.
Vajrāmayaparvato yadi ghātanārthāya hi mūrdhni āpatet,
Smarato avalokiteśvaraṃ romakūpo na prabhonti hiṃsitum.
Saci śatruganaih parīvrtah śastrahastairvihimsacetasaih,
Smarato avalokiteśvaraṃ maitracitta tad bhonti tatkṣaṇam.[3]

Etymology of the term suggests, the lord who looks down or perceives. Recent scholarship of Buddhism however reveals that the original term was Avalokitāswara, that is, he who listens to the pains, sufferings, laments of all sentient beings and comes to their rescue; this tradition argues that as an influence of Vaiṣṇavism, Avalokitāswara was corrupted to Avalokiteśvara.[4]

Tradition tells us that Avalokiteśvara takes a bow to emancipate all sentient beings from their sufferings and for this purpose defers his own nirvāṇa. Fables in Buddhism narrate that Avalokiteśvara is disheartened and tired in resurrecting beings, his head gets tattered into eleven pieces, immediately Amitābha Buddha grants him eleven heads, Amitābha Buddha also grants him 1000 hands and thus we have the notion of Sahasrabhuja-Avalokiteśvara.This fable may well remind us of Mahāvidya Chhinnamastā who stands on lovemaking Kāma and Rati, holding her slashed off head; the similarity of both these notions lies in their purported non-difference between creation and destruction or decay. Tradition also depicts him as an earthly manifestation of Sambhogakāya Buddha, Amitābha Buddha sustaining the world between the historical advent of Buddha, Gautam and future Buddha,Maitreya.

The most intriguing and puzzling aspect about Avalokiteśvara however pertains to his/her sex or gender. While the term bodhisattva itself is masculine, one may interpret Avalokiteśvara as a male, being a bodhisattva. However various accounts in Buddhist tantra,depict Avalokiteśvara variedly as male, female, both and sometimes neither [coincidentally a parallel of Catuṣkoṭi]. *Saddharmapuṇḍarikasūtra* mentions 33 forms of Avalokiteśvara, of which 7 are female. *Kāraṇḍavyuhasūtra*[5] mentions 21, of which 1 is female.*Āryamañjuśrimūlakalpa* mentions that Avalokiteśvara, for emparting worldly skills and lokakalyāṇa undergoes sex conversion as required.

In Chinese accounts when the deity was introduced in the devatāmaṇḍala, he was regarded as masculine. Nevertheless Avalokiteśvara who developed in form of Guanyin in the Chinese tradition, in the course of historical evolution got feminized. Parallel to the historical evolution of Guanyin, another form of Avalokiteśvara, Cuṇḍi or Bhagawati Cuṇḍi becomes popular in Chinese culture. Cuṇḍi is regarded as mother goddess in Chinese Buddhism. Cuṇḍi is depicted as aṣṭādaśabhujā, her eighteen hands symbolizing 18 merits of attaining Bodhi. Cuṇḍi is epitome of feminine virtues like care, love, maitri, karuṇā, muditā, etc. Later depiction of Avalokiteśvara or Guanyin in Chinese Buddhism as female is in greatest likelihood owing to the imposition of feminine virtues on the deity.

Indian and Chinese art present certain strikingly similar characters of sculptures of Avalokiteśvara. Art-historians opine that Avalokiteśvara idols are rendered female features such as thin lips, elevated hips,

delicate facial features and yet certain lāñchhans that may give the deity a masculine tinge, most commonly a thin moustache. The best instance is fresco of Padmapāṇi [yet another iconic form] of Avalokiteśvara in cave 1 of Ajanta, a fresco which is synonymous with Ajanta cave paintings; except leveled breast, all the details of Padmapāṇi in this fresco are feminine.

(2)

An attempt to understand the gender puzzle in the light of Śaiva-Śākta ideas:

To an occidental mind or even to one with scientific temper it is absolutely a baffling idea that an entity is both a male and female or defies gender categorization. Again though it is a question of little or no importance to one who has realized the notion of sāmrasya, it may be asserted that the question itself is raised by one who has not yet realized this ideal and also the same kind of person attempts to answer it. We may reach an explanation of the problem if we contextualize the notion in the light of insights provided by Śaiva- Śākta tradition.

It might be profitable to note that in earliest forms of Buddhism, devi-aradhanā was prohibited. *Digha Nikāya* clearly forbids three forms of worship-ādityapoojā, mahādevatāpoojā and mahādevi poojā.[6] In the early centuries of Christian era a decline in Buddhism in the aftermath of fall of Kuṣāṇas and in the wake of popularization of Śaiva, Vaiṣṇava streams, Buddhist tradition may have felt compelled to absorb devatāmaṇḍala from the sanātana religion. Upendra Kumar Das writes in *Sāstramālaka Bhāratiya Śāktisādhanā,* that an influence of śāktism upon Buddhist tantra, saśaktidevārādhan is a key feature of later Mahāyāna which turns it into Vajrayāna. In the process many deities were absorbed into Buddhist tantra with some moderations. For an instance Mārichi seems to be a conglomerated moderation of Vārāhi and Saptāśvarathāruḍha Surya. Tārā is without a doubt the most important female deity in Buddhist tantra, the Buddhist Tārā is almost an exact parallel of Tārā Mahavidyā. I should clarify that it requires careful research to judge whether Tārā went into Saktism from Buddhism or whether it was the other way round. In Buddhism, Tārā is the power of Dhyani Buddha. Tārā in Buddhism has multiple forms and one of them, Sit-Tārā, is the power of Avalokiteśvara. Again Śākta Chhinnamastā is a parallel of Chhinamuṇḍā in Buddhist Tantra. It is again reiterated that it is difficult to adjudge whether Chhinamastā was anterior or posterior to Chhinamuṇḍā, though the figure and details of latter seem to be more prototype and that of the former are undoubtedly more refined. Cuṇḍi with her 18-handed icon is almost identical to the depiction of Mahālakṣmi Mahiṣāsuramardinī in *Śri Durgā Saptaśati*.[7] The bottom-line is that innumerable deities from Vaidikaparamparā were absorbed in the śramaṇa tantra.

Historical and Geographical Perspective : The absorption of Śaiva-Śākta tenets into Buddhist Tantra has a historical and geographical context. Historically Buddhist religion got deprived of a royal patronage after the fall of Kuṣāṇas. Despite that under the Guptas, Buddhism was never persecuted and some of the finest pieces of Buddhist art came in this period, it was the Brahamaṇical religion that was incontrovertibly supreme under the Guptas. The patronage under Harṣavardhana was shortlived. Pālas were the last royals who patronized Buddhism. It must be noted that the heart of Pāla power lay in eastern fringe of modern-day Bihar and north and central Bengal, and the early development of Vajrayāna was under Pālas in Bengal region, the land of Śāktas. It was therefore obvious that Śākta elements would have percolated in Buddhism.

The depiction of Avalokiteśvara then as both male and female might be an absorption of Ardhanāriśvara in Buddhist tantra- this is the central most assertion or hypothesis of this paper.Ardhanāriśvara murti in Śaiva-Śākta tradition symbolizes an aprithak non-dual relation between Śiva and Śakti. Eternal, ayuta inseparability between Śiva and Śakti percolates in later Buddhism. Upāya-Prajñā, Buddha-Prajñā, Karuṇā-Śunyatā, Mañjuśri-Tārā are nothing but synonymous Buddhist terms for Śiva and Śakti. But while Śiva without Śakti is śava, Śiva is inactive and Śakti is active, it is the other way round in Buddhism; in Buddhist tantra Buddha or Upāya is active whilst Prajñā is inactive.[8] A non-dual relation between Śiva and Śakti is one of the most central tenets of Śākta-mata. As the Śākta tradition says:

Yathā śivastathā devī yathā devī tathā śivaḥ[9]

Sā devī paramādevī śivābhinnā śivaṅkarī,
Śivābhinnā tayā hinaḥ śivo·api hi nirarthakaḥ[10]

Thus Śiva and Śakti are non-dual or advaya.The entire problem may also be viewed from the perspective of maithun as a part of pañchatattva or pañchamakāra. Mithuna signifies yugal or couple; the union of yugal is maithuna. Maithuna symbolizes union of śivaswaroop sādhaka and śaktiswaroopā sādhikā.[11] Thus sex or maithuna also epitomizes the above non-duality.

Avalokiteśvara therefore turns out to be a blend of masculine and feminine powers. It represents like Ardhanāriśvara the primeval cosmic power still un-sundered in masculine and feminine distinctions and for that matter such sundering is not feasible; stritva and puṇstva are both subsumed under this primordial power or ādi-śakti. It is thus a strongly probable hypothesis that Avalokiteśvara is a Buddhist version of Śiva-Śakti advaya or Ardhanāriśvara.

Epistemological Perspective : If we view from Buddhist epistemic concepts then the entire problem gains a new context. Buddhist Epistemology subscribes to pramāṇa-vyavasthāvāda, as per which a particular kind of prameya is known through one pramāṇa only and not multiple[as in pramāṇa-samplava of Nyāya].Thing-in-itself or swalakṣaṇa as known from pratyakṣa is completely kalpanāpoḍha or beyond all thought determinations, names, universals, etc. Gender or sex being a name the root cosmic power and the real have to be beyond gender distinctions. Real cannot have sex ascriptions. Avalokiteśvara representing the real, primeval cosmic power, arthakriyā, śakti, cannot be thus tied down into sex distinctions. Therefore there is no contradiction in assigning the deity any one sex or a permutation of sexes, as the deity is in fact beyond such thought determinations and sex- a mental construct-has nothing to with the real or its celestial and earthly manifestations.

Axiological Perspective: Another perspective of viewing the debate is from the angle of virtues. Avalokiteśvara as a deity perfects in his/her persona both masculine and feminine virtues. It has the feminine virtues of care, compassion, love(as in Guanyin), all the same masculine strength, firmness, courage (as in Sahasrabhujāvalokiteśvara). In fact, yet again Avalokiteśvara is beyond the categorization of masculine and feminine. Like primeval power, in this context it represents the primeval virtue. As *Saddharmapuṇḍrikasūtra* declares Avalokiteśvara, the perfection of all virtues, the personification of virtue itself:

Sarvaguṇasya pāramiṃgataḥ sarvasattvakṛpamaitralocano
Guṇabhuta mahaguṇodadhiḥ vandanīyo Avalokiteśvara[12]

One may ask whether there is an ontic status of such primordial virtue; perhaps the Dharmakāya is such primordial virtue, primordial power, a unity of satyam-śivam-sundaram. This note also raises a question-mark upon the much later and parochial watertight compartmentalization of feminine and masculine power and virtue, since there is no essential gulf between the two sexes, gender inequality wades apart. Thus an obvious implication for the debate on gender inequality is a precept, that in-essence there is no difference between the two sexes.

I do believe that in this manner the novel oriental thought in Śākta and Śramaṇa stream has deep ramifications for present day feminist debates. This aspect of Avalokiteśvara provides an ample avenue for research in feminism and a comparative study between Śaiva-Śākta and Śramaṇa traditions. May the lord of great compassion get alive in each one of us or as Carpatipāda praises him in the strota to follow, may his prayers be heard (if there is one who listens to prayers and responds to them, as being an agnostic I may not take sides in this case).

Devamanuṣyasuranutacaranaḥ pratihatajanmajararujamaranaḥ,
Lokeśa tvaṃ māmaśaraṇyaṃ rakṣa kṛpālo kuru kāruṇyam.
Saṃsārodadhimadhyanimagnaṃ kleśamahormisamāhitabhagnam,
Māmavadhāraya māviruvantaṃ trāhi mahākṛpa naumi bhavantam.
Tṛṣṇātimiropadrutanetraṃ maraṇamahābhayavihvalagatram,
Pālaya bhagavannalokaya maṃ yavadavīciṃ yāmina viṣamām.
Kṛtamanyastrīgrahaṇamajasraṃ hatamajñeyaṃ prāṇisahsram,
Nātha mayā kṛtapāpamaśeṣaṃ nāśaya sampratikāyikadoṣam.
Yajjīvitasatkāranimittaṃ lokān nityaṃ bhaṇitamasatyam,
Tallokeśvara śamaya samastaṃ vacikanarakaṃ ciramabhyastam.
Sattvānāmih cintitamahitaṃ svyamanumoditamapi naravihitam,
Adhuna tanmam mānaspāpaṃ sphotaya nātha karomi vilāpam.
Devamanuṣyāsurajātīnāṃ tiryaṅnārakapretagatīnām,
Sattvā ye nivasanti sadā··rtā rakṣasi tāniti tava mayi vārtā.
Tena mamopari sṛja kāruṇyaṃ vīkṣya śarīragataṃ tāruṇyam,
Iti śṛṇu bhagavan bhavati bhaṇāmi yāvannarakaṃ naiva viśāmi.
Kim copetya karoṣi parārthaṃ muñcasi bhagavan māmakṛtārtham,
Athavā prekṣy akṛpā tava puṇyaṃ janayasi dṛṣṭaṃ kathamavipannam.
Smaraṇ enāpi bhavasi parituṣṭaḥ kṣipasi ca kaluṣaṃ kimiti na dṛṣṭaḥ,
Yasmād bhagavan parahitdakṣa kṣepaṃ mā kuru māmiha rakṣa.[13]

References:

1. *Saddharmapuṇḍarikasūtra*[Kern, H.(tr.) (1884). *Saddharmapuṇḍarika or the Lotus of the True Law*. Sacred Books of the East, Vol. XXI, Oxford: Clarendon Press]
2. *Saddharmapuṇḍarikasūtra*.24.4
3. *Saddharmapuṇḍarikasūtra*.24.5.9
4. Lokesh Chandra: *The Origin of Avalokitesvara*. Indologica Taurinensia. 13(1985-86)

5. *Kāraṇḍvyuha sūtra* [Studholme, Alexander (2002).*The Origins of Om Manipadme Hum: A Study of the KarandavyuhaSūtra*. Albany: State University of New York Press]
6. Upendra Kumar Das (1966).*Śāstramūlaka Bhāratiya Śaktisādhanā*, vol. 1, Shantiniketan: Vishwabharati. p.133
7. *Sri Durgā Saptaśatī.* Hindi translation by Ramanarayandutta Shastri Pandey. Gorakhpur: Gita Press (2009 reprint)
8. Upendra Kumar Das (1966)).*Śāstramūlakā Bhāratiya Śaktisādhanā*, vol. 1, Shantiniketan: Vishwabharati. p. 342
9. *Bhāskarāryakrit Saubhāgyabhāskardhrit Liṅgapuraṇavacana*, quoted in Upendra Kumar Das (1966).*Śāstramūlaka Bhāratiya Śaktisādhanā*, vol. 1, Shantiniketan: Vishwabharati. p. 186 footnotes
10. *Sutasamhitāvachana*, quoted in Upendra Kumar Das (1966).*Śāstramūlaka Bhāratiya Śaktisādhanā*, vol. 1, Shantiniketan: Vishwabharati. p. 133
11. Upendra Kumar Das (1966)).*Śāstramūlakā Bhāratiya Śaktisādhanā*, vol. 2, Shantiniketan: Vishwabharati. p. 623
12. *Saddharmapuṇḍarikasūtra*.24.26
13. *Carpatipādaviracitam Avalokiteśvarastotram*. 1.10
14. Gyatso, Tenzin, Fourteenth Dalai Lama (2002). Jinpa, Thumpten, ed. *Essence of the Heart Sūtra: The Dalai Lama's Heart of Wisdom Teachings*. English Translation by GesheThuptenJinpa. Boston: Wisdom Publications
15. Susan Huntington (2014): *The Art of Ancient India,Buddhist, Hindu, Jain.* New Delhi: Motilal Banarasidass

Assistant Professor,
Department of Philosophy,
University of Rajasthan,
JAIPUR.